धर्म और आध्यात्मिकता

पार्थसारथी राजगोपालाचारी

धर्म
और
आध्यात्मिकता

धर्म और आध्यात्मिकता

ओज़राँ, फ्राँस में दी गयी वार्तायें

(जुलाई 9 - 16, 1991)

पार्थसारथी राजगोपालाचारी

लेखक

श्री रामचन्द्र मिशन

मुख्यालय - शाहजहाँपुर, भारत

Dharma Aur Aadhyatmikta
Hindi Translation of the English Book :
Religion & Spirituality

© श्री रामचन्द्र मिशन
मुख्यालय – शाहजहाँपुर, भारत

सर्वाधिकार सुरक्षित

स्प्रिट्युअल हायरार्की पब्लिकेशन ट्रस्ट
कोलकाता - 700 027
के लाइसेन्स के अन्तर्गत प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1997
पुनः छपाई : 2015

© by Shri Ram Chandra Mission
HQ – Shahjahanpur, India

All rights reserved

www.sahajmarg.org

Published under licence by
Spiritual Hierarchy Publication
Trust Kolkata – 700 027

First Edition : 1997
Reprint : 2015

Copies : 1500

ISBN : 978-93-84963-28-6

Printer :
Sterling & Quadra Press India Ltd.,
Chennai, India

अनुक्रमणिका

1. जुलाई 9, 1991 9

2. जुलाई 10, 1991 29

3. जुलाई 11, 1991 51

4. जुलाई 12, 1991 69

5. जुलाई 13, 1991 85

6. जुलाई 14, 1991 103

7. जुलाई 16, 1991 121

8. जुलाई 19, 1991 135

१

ओज़राँ, फ्राँस
जुलाई ९, १९९१

९ जुलाई १९९१

हम भारत में प्रशिक्षण शिविरों के द्वारा प्रयोग करते रहे हैं। यह लगभग एक सप्ताह या छः दिनों का होता है। प्रतिदिन चार सत्र होते हैं। मेरे ख्याल से कुल मिलाकर इसमें २४ या २७ घंटे का कार्यक्रम रहता है। पाठ्यक्रम का विषय सैद्धान्तिक अधिक होता है। इसकी शुरुआत धर्म, धार्मिक प्रणालियाँ, भारत में दर्शन शास्त्र की छः प्रणालियाँ, योग और इसी तरह के अन्य विषयों से होती है। यह ठीक चल रहा है और मैं समझता हूँ कि भारत के अभ्यासियों को जिसमें प्रशिक्षक भी हैं भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि की कुछ बातों को समझने में इससे बहुत सहायता मिली है। भारतीय होने के नाते शायद यह जानना उनके लिये आवश्यक भी है। मैं समझता हूँ कि उसी तरह के प्रशिक्षण शिविरों की आवश्यकता यहाँ भी है। ऐसा नहीं है कि आपके लिये भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि को जानना या योग के विकास की पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है फिर भी हमारे जीवन में सदाचार, नैतिकता, आध्यात्मिकता, धर्म, मालिक और सबसे अधिक महत्वपूर्ण खुद हमारी क्या भूमिका होती है - इसे जानना अवश्य जरूरी है।

मैं समझता हूँ कि जब हम किसी काम को करके उसमें सफल नहीं हो पाते तो हमारी इस असफलता के पीछे यही होता है कि इस काम में हमारी खुद की भूमिका क्या होनी चाहिये थी - इस पर हम विचार नहीं करते। मानवीय विकास के बारे में जब भी हम गौर करते हैं तो इसमें मालिक की क्या भूमिका है, आध्यात्मिकता, विज्ञान, कला, आटोबस या स्पैगेटी की क्या भूमिका है - इसी पर विचार करते रह जाते हैं, अपनी खुद की भूमिका का विचार नहीं करते। मेरे जीवन में इन चीजों की भी भूमिका है। मेरा मतलब है कि मुझे इनसे खुशी होती है और मेरा वजन बढ़ाने में भी इनका योगदान है। वैसे प्रसन्नता और परेशानी दोनो 'प' से शुरु होने वाले शब्द हैं और साथ-साथ चलते हैं तथा दुर्भाग्यवश मेरा नाम पार्थसारथी राजगोपालाचारी भी 'प' ही शुरु होता है। मुझे आशा है कि पार्थसारथी राजगोपालाचारी कोई परेशानी नहीं हैं। मुझे ऐसा लग रहा है कि यहाँ पश्चिमी सभ्यता में रहने वालों के लिये एक अलग तरीके के प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की आवश्यकता है।

अब मैं खुद तो इसे बना नहीं सकता क्योंकि मैं किसी विषय का प्रोफेसर नहीं हूँ। मैंने न तो हिन्दू धर्म का अध्ययन किया है, न कभी धर्म का विद्यार्थी रहा हूँ, न ही विभिन्न भाषाओं का मुझे कोई ज्ञान है। इसलिये मेरे लिये तो ऐसा कर पाना आसान नहीं है। भारत में हमने विभिन्न विषयों में पी. एच. डी. का एक संकाय विकसित किया है लेकिन मैं देखता हूँ कि पी. एच. डी. किये हुये लोग किसी विषय को एक विशेष तरीके से पढ़ाते हैं जिसे अँग्रेजी में लीक पर चलना कहा जाता है। ठीक उसी तरह जैसे कोई घोड़ागाड़ी जहाँ भी जाती है उसका पहिया सड़क पर एक खाँचा बनाता जाता है बाद में यह गाड़ी केवल उस खाँचे पर या यों कहें कि उस लीक पर ही चलती है। वस्तुतः यह एक प्रकार की रुढ़िवादिता ही है जिसमें विविधता न होने के कारण नीरसता तथा उबाऊपन आ जाता है। हमारी शिक्षा प्रणाली में आज यही दोष आ गया है। यहाँ किसी भी चीज को तब तक दुहराया जाता है जब तक उससे घृणा न पैदा हो जाये। संक्षेप में यदि कहूँ तो आज अध्यापन प्रक्रिया में कोई सृजनात्मकता रह ही नहीं गयी है।

अगर आप ऐसे लोगों का निर्माण करना चाहते हैं जो सृजन करने की क्षमता रखते हों तो आपको अध्यापन की प्रक्रिया में भी सृजनात्मकता लानी होगी। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिये जो स्वयं से विकसित हो। मेरी तो मान्यता है कि विकास ही अस्तित्व का सृजनात्मक पहलू है। जो विकासशील नहीं होता वह सृजनात्मक हो ही नहीं सकता। अगर आप मशीन द्वारा निर्मित और हस्तनिर्मित कलाकृतियों की तुलना करें तो उसमें निश्चित अंतर पायेंगे। हाँथ से बनी हुई वस्तु मशीन से बनी हुई वस्तु की अपेक्षा ज्यादा महँगी होती है। महान कलाकारों की उत्कृष्ट कलाकृतियों की मशीन द्वारा निर्मित प्रतिकृतियाँ, त्रिआयामी मूर्तियाँ, उनकी हूबहू नकल आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। कम्प्यूटर से आप हर जीत की नकल बना सकते हैं। लेकिन यह सृजनात्मकता नहीं है। यह तो पुनरावृति है, नकल है। यही कारण है कि लोग हाँथ से बनी हुई चीजों को खरीदना चाहते हैं चाहे वह अपरिष्कृत ही क्यों न हो क्योंकि इसमें बनाने वाले की सृजनात्मकता भावना दिखाई देती है।

अब शिक्षकों को भी सृजनात्मक बनना होगा। उन्हें सृजनात्मक कैसे बना जाये? यह तो मैं नहीं जानता चूँकि शिक्षक न होने के नाते सृजनात्मक शिक्षक कैसा होता है - इसकी जानकारी मुझे नहीं है लेकिन कई साल पहले जब मैं जबलपुर में स्कूल में पढ़ता था, मेरे

ख्याल से मैं लगभग १२ साल का रहा होऊँगा, हमारे स्कूल में वाद-विवाद हुआ करता था और हमें वाद-विवाद करना सिखाया जाता था। ये ब्रिटिश स्कूल थे और इन्हें पब्लिक स्कूल कहा जाता था। भारत में आज भी पब्लिक स्कूल हैं। कोई विषय दे दिया जाता था जैसे शक्ति से अधिकार बड़ा है या अधिकार से शक्ति। लड़कों के दो दल बन जाते थे - कुछ इस तरफ, कुछ उस तरफ। कुछ का तर्क होता था कि शक्ति बड़ी है कुछ कहते थे शक्ति नहीं अधिकार बड़ा है। अच्छा तर्क-वितर्क होता था। यह बहस कुछ घंटे तक चलती थी। खूब शोर होता था। बच्चे मेज पर मुक्का मार-मार कर अपनी बात कहते थे। अंत में हमारे प्रोफेसर साहब जो बहुत ही समझदार व्यक्ति थे, कहते थे: आपने देखा कि यह प्रश्न कितना कठिन है? यह ऐसी चीज है जिसका निर्णय आपको स्वयं करना है क्योंकि कुछ स्थितियों में शक्ति न्यायपूर्ण हो सकती है तो कुछ स्थितियों में अधिकार। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सही होने का निर्णय नीतिपरक होना चाहिये न कि शक्तिपरक।

हम समझते हैं कि बल प्रयोग से हम कुछ भी कर सकते हैं लेकिन कम से कम महिलायें तो यह जानती ही हैं कि अगर बच्चे को भी जबरदस्ती दूध पिलाया जाये तो वह कुल्ला कर देगा। जबरदस्ती करने से कोई फायदा नहीं होता। हर चीज को स्वीकार करना होता है। यहाँ तक कि प्यार को भी स्वीकृति की जरूरत होती है। यहाँ प्रसंगवश मैं इतना कह दूँ कि पश्चिम में यह भी एक समस्या है कि हम जिसे प्यार करते हैं हम समझते हैं कि वह हमें प्यार करे या न करे हमें जबरदस्ती उसे प्यार करने का अधिकार है। लेकिन प्यार में बल प्रयोग से प्रतिशोध की उत्पत्ति होती है। परिणाम यह होता है कि आप जो भी करना चाहते हैं वह नहीं कर पाते और आपका सारा प्रयास बेकार हो जाता है। फिर आप बैठ कर रोते हैं और कहते हैं: ओह! मैं उसे कितना अधिक प्यार करता हूँ या करती हूँ फिर भी वह मुझे प्यार नहीं करता या करती। दरअसल में प्यार का प्रतिकार असम्भव है क्योंकि सब कुछ तो न्यूटन के सिद्धान्त पर ही आधारित है। हर क्रिया के विपरीत और समान प्रतिक्रिया होती है। इसलिये आप प्यार तो कर सकते हैं लेकिन किसी को प्यार करने के लिये बाध्य नहीं कर सकते।

इसी तरह सच तो यही है कि आप शिक्षा को भी जबरदस्ती किसी के गले नहीं उतार सकते। १२ साल की अवस्था में एक परिचर्चा में भाग लेकर मुझे बहुत मजा आया था। परिचर्चा का विषय था: समझना अधिक आवश्यक है या उसका अनुभव करना। हमारे अँग्रेजी के शिक्षक

बहुत अच्छे थे। हमें यह नहीं पता था कि किसी चीज को समझने में और उसका मूल्यांकन करने में क्या अंतर है। शिक्षक महोदय एक सेब लेकर आये। बहुत देर तक तो हम लोग उस सेब को देख कर ही हँसते रहे। चूँकि आदम और हौवा की कहानी में इसी सेब का वर्णन आता है। सेब अपने हाँथ में लेकर उन्होंने कहा: कोई भी एक टुकड़ा सेब खाये। एक लड़का उठा और उसने एक टुकड़ा सेब खाया। फिर उन्होंने उस लड़के से पूछा: अच्छा जॉन! अब तुम बताओ तुमने इसे समझा है या इसका अनुभव किया है? तुमने तो इसे खाया है। उसने कहा: महोदय! मैंने इसका रसास्वादन किया है। फिर उन्होंने कहा: अब पुस्तक में से उस कविता को निकाल कर पढ़ो। कविता को पढ़ने के बाद उन्होंने फिर पूछा: अब तुमने इस कविता को समझा है या इसका मूल्यांकन किया है? उसने कहा: मैंने कुछ भी नहीं किया क्योंकि कविता मुझे पसंद ही नहीं आयी। मैं इसे नहीं समझ पाया। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि इसमें यह व्यक्ति किस चीज के बारे में बात कर रहा है इसलिये मैं इसे नहीं समझ पा रहा हूँ। अंतत: आधे दिन की परिचर्चा के बाद यह निष्कर्ष निकला कि समझने का मूल आधार भी मूल्यांकन ही है। वस्तुत: इस सत्य को केवल लडकपन या वाद-विवाद का विषय समझ कर या शैक्षिक अभ्यास समझ कर नकारा नहीं जा सकता। मेरे लिये तो यह मौलिक ज्ञान था कि जब तक आप किसी व्यक्ति को समझ नहीं लेते आप उसका मूल्यांकन नहीं कर सकते। अगर यह केवल चटोरापन का अभ्यास नहीं है तो जब तक आप इसे समझ नहीं लेते पूरी तरह से उसका मूल्यांकन नहीं कर सकते।

अध्यापन में भी हमें यह समझने की जरूरत होती है कि हमें क्या पढ़ाने की कोशिश की जा रही है या अध्यापक हमें क्या सिखाना चाहता है। अगर हम इसे समझ लें तो मेरी समझ में हम वह सब कुछ सीख लेंगे जो अध्यापक हमें सिखाना चाहता है। सामान्यतया अध्यापकों के प्रति हमारे मन में एक प्रतिक्रिया होती है कि पता नहीं यह हमें क्या समझा रहा है? अपने आप को समझता क्या है? हमें भाषण पिला रहा है। लेकिन अगर हम उस व्यक्ति का उद्देश्य जानने की कोशिश करें - मन से नहीं, हृदय से कि आखिर वह हमें पढ़ाने में इतनी रुचि क्यों ले रहा है? हमें पढ़ाने के पीछे इसका क्या स्वार्थ है? यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि वह जो कुछ भी हमें सिखाना चाहता है आखिर उसको इससे क्या लाभ होगा? इस प्रश्न के उत्तर में ही शिक्षक और विद्यार्थी के बीच का संबंध छिपा है। अगर विद्यार्थी को शिक्षक के उद्देश्यों में

कोई संदेह है जैसे वह सोचता है कि अरे! यह व्यक्ति तो केवल वेतन लेने के लिये हमें पढ़ा रहा है। जितना अधिक यह हमें पढ़ायेगा उतना अधिक इसे वेतन मिलेगा। यह तो अपने लिये यह सब कर रहा है, हमारे लिये नहीं। तो शिक्षक और विद्यार्थी के बीच का संबंध समाप्त हो जाता है। मैं तो समझता हूँ कि ज्यादातर समय यह संबंध स्थापित ही नहीं हो पाता।

दरअसल हमें यह भी सोचना चाहिये कि हम यहाँ किसी को सुनने क्यों आये हैं? अगर हमें पढ़ाया जाना पसंद नहीं है तो हमें यहाँ आना ही नहीं चाहिये। इसलिये हमारा यह जानना भी आवश्यक है कि समझना या ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिये जरूरी क्यों है? यह सब किसके लिये हो रहा है? क्या हम यहाँ आधा घंटा या एक घंटा बिताने आये हैं ताकि वापस जाकर हम यह कह सकें कि वाह! हमारा पाठ्यक्रम किनता अच्छा है? आजकल कई पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेना एक फैशन सा बन गया है - विभिन्न भाषाओं में, भाषा विज्ञान में, शब्दार्थ विज्ञान में और न जाने कितने पाठ्यक्रमों में। कुछ तीन दिन के होते हैं, कुछ पन्द्रह दिन के और सब बहुत महँगे होते हैं।

लेकिन हमारे यहाँ दूसरी समस्या है। चूँकि हम आध्यात्मिक शिक्षा के लिये कुछ भी पारिश्रमिक नहीं लेते हममें से बहुत से लोग इस शिक्षा की उपयोगिता पर ही संदेह करते हैं। उन्हें लगता है कि यहाँ अगर शिक्षक कुछ पारिश्रमिक ही नहीं लेता तो वह शिक्षा देने में दिलचस्पी कैसे लेगा? लेकिन यह बात समझने की है कि क्या हम किसी चीज में केवल तभी रुचि लेंगे जब हमें उसका पारिश्रमिक मिले। फिर तो इसे रुचि लेना नहीं कहा जा सकता। आर्थिक रूप से भले ही यह कहा जाये कि मैं इसमें रुचि ले रहा हूँ चूँकि मैंने इस स्कूल में अपनी बीस लाख मार्क की पूँजी निवेशित कर रखी है और आप लोग स्कूल की फीस के रूप में मुझे उसका ब्याज अदा कर रहे हो। इस प्रकार के समीकरणों में हमेशा दो अज्ञात राशियाँ X और Y होती हैं। हमारे गणित के अध्यापक यहाँ हैं - वे इसे जानते हैं। इन समीकरणों में एक X है और दूसरा Y - दोनो सदा परिवर्तनशील हैं, दोनो अज्ञात हैं, इनमें और भी कई प्रकार के मनोरंजक गुण हैं। दोनो सामान्य समझ की खोज में हैं।

यहाँ सामान्य समझ बहुत महत्वपूर्ण तत्व है चूँकि जब तक एक सामान्य समझ नहीं विकसित होती न तो विद्यार्थी शिक्षक को समझ पाता है और न ही शिक्षक विद्यार्थी को। मैं यहाँ सही अर्थों में समझ विकसित होने की बात कर रहा हूँ - समझना हृदय से है, मस्तिष्क से

नहीं। आज समझ की जो प्रणाली हमारे सामने है उसमें हम यह दोष पाते हैं कि यह लोगों को प्रेरित किये जाने पर आधारित है। दरअसल यह शब्दावली व्यवसायिक स्कूलों में प्रयुक्त होती है। व्यवसायिक प्रबंधको को प्रेरित करने वाली चीजें, विक्रय प्रबंधकों को प्रेरित करने वाली चीजें। आज हर किसी को हर चीज के लिये प्रोत्साहित करना पड़ता है। इसीलिये हम यहाँ भी सोचते हैं कौन सी ऐसी चीज है जो पढ़ाने के लिये इस व्यक्ति को प्रेरित कर रही है? अच्छी तरह समझ लीजिये कि हमारा कल्याण, हमारी खुशी, हमारा आध्यात्मिक विकास ही वे चीजें हैं जो उसे हमें पढ़ाने के लिये प्रेरित कर रही हैं। यह बात आसानी से हमारी समझ में इसलिये नहीं आती क्योंकि आज के भौतिकतावादी समाज में जहाँ हमारे स्वयं की संतुष्टि, स्वयं का कल्याण, स्वयं के अस्तित्व को बनाये रखने की चाह को ही महत्व प्राप्त है। दरअसल आज के युग में यह बात समझ पाना कि कोई ऐसा भी है जो किसी ऐसी चीज में रुचि रखता है जिसमें उसके स्वयं का हित न हो - बहुत कठिन है।

मेरी समझ में आज सबसे जरूरी यह है कि हम यह समझ विकसित कर लें कि हमारी जैसी आध्यात्मिक संस्थाओं में अगर हमको कोई कुछ सिखाने का प्रयत्न कर रहा है तो इसमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है और यह सच भी है अन्यथा अगर वह इससे लाभ ही प्राप्त करना चाहता तो वह इसे कई तरीकों से प्राप्त कर सकता था। वह प्राच्य पुराण विद्या का, अर्थ विज्ञान का, दर्शन शास्त्र का या अध्यात्म का ही प्रोफेसर हो सकता था। मैं जानता हूँ कि ऐसे बहुत से विश्वविद्यालय हैं जो इन विषयों के अध्यापन के लिये भी पैसा देते हैं: प्राणाहुति की कक्षायें! हम कहीं से भी - चेन, गियर, व्हील से शुरु करके अंत में उच्चतम स्तर की प्राणाहुति तक पहुँच सकते हैं। तीन महीने या बावन घंटे इस विषय में अध्यापन कीजिये और मैं निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कह सकता लेकिन ऐसा करके आप किसी अमेरिकन यूनिवर्सिटी से तीस हजार डॉलर तो प्राप्त कर ही सकते हैं। इसीलिये हम सोचते हैं कि यह व्यक्ति वहाँ क्यों नहीं है, यहाँ क्यों है?

इन पहलुओं पर हमें विचार करके निर्णय करना चाहिये कि हम यहाँ क्यों हैं, वह यहाँ क्यों है, क्या हमलोग यहाँ एक समान उद्देश्य के लिये हैं, क्या यहाँ किसी ऐसी सांसारिक वस्तु का लेन-देन होता है जो ऐसे संबंधों के लिये आपत्तिजनक हो सकता है? अगर नहीं तो क्या यह ऐसा सरल, पवित्र और उदात्त संबंध है जहाँ हम सरलता के साथ अपने

विचारों का, अपनी जानकारी का, अपनी समझदारी का आदान-प्रदान कर सकते हैं? तभी मैं समझता हूँ कि यह संबंध वास्तव में लाभदायी होगा और इसकी उपयोगिता समझी जा सकेगी और तभी हम इस प्रकार के सेमिनारों में भाग लेकर वह सब प्राप्त कर पायेंगे जो हमारे लिये जरूरी है, महत्वपूर्ण है। अन्यथा यह केवल एक क्रिया बन कर रह जायेगी। मुझे लगता है कि इस समय यह सेमिनार केवल यांत्रिक बन कर रह गया है। हम यहाँ आते हैं और ध्यान करते हैं। हममें से बहुत से ऐसे लोग हैं जो यह भी नहीं जानते कि वे ध्यान क्यों करते हैं? हमलोग नैतिकता और सदाचार को लेकर चिन्तित हैं। हम अनुशासन को लेकर परेशानी में हैं। हम उनसे नाराज हैं। आखिर यह कौन है जो हम पर अपने हास्यास्पद पूर्वी विचारों को, अपने जीने की पद्धति को थोप रहा है? आखिर यह कौन सी नैतिकता है? मैं समाज के लोगों से अलग किस्म का कैसे हो सकता हूँ? जब सारे लोग यह कर रहे हैं तो मेरे ऐसा करने में क्या गलत है? ऐसे तमाम प्रश्न हमारे मन में उठते हैं। अगर हम इन प्रश्नों पर गहराई से विचार करें तो पायेंगे कि ये ऐसे प्रश्न हैं जो हमारे स्वार्थ से संबद्ध हैं।

हमारा यह सारा विद्रोह केवल इसलिये है क्योंकि हमें इन चीजों से इतना लगाव है कि हम इन्हें छोड़ना नहीं चाहते। जैसे कोई बच्चा अपना खिलौना नहीं छोड़ना चाहता। अगर उससे कहा जाये कि इसे छोड़ दो तो वह कहेगा: नहीं, नहीं, मैं इसके बिना नहीं रह सकता। उदाहरण के लिये जब कोई २८ साल का आदमी अपने बिस्तर में टेडी बियर को लेकर सोता है तो हम कहते हैं यह आदमी जरूर पागल होगा। यह शादीशुदा है लेकिन देखो! अभी भी यह अपने साथ टेडी बियर लेकर सोता है। पता नहीं इसे क्या हो गया है? वह कहता है: नहीं, नहीं, मैं इसे नहीं छोड़ सकता, मुझे इससे लगाव है और आप सोचते हैं कि वह पागल है। इसी तरह जब अभ्यासी होने के बाद अपनी बचकानी आदतों को, बचकाने विचारों को हम अपने इस वयस्क जीवन में लाते हैं और हमें यह बताया जाता है कि यह अब आपके लिये उचित नहीं है, अच्छा नहीं है इसलिये आपको ऐसा करने की अनुमति नहीं है तो हमें कष्ट होता है, हम भड़क उठते हैं। स्वतंत्रता, भाईचारा और समानता का यह विचार हमें हास्यास्पद प्रतीत होता है। पुराने अच्छे फ्राँसीसी झूठ!

इसीलिये बार-बार हमें आपको बताना पड़ता है कि यह आपकी भलाई के लिये है। जब भी कोई शराब पीता है, कष्ट उठाता है लेकिन

अगर वह इतना बेवकूफ है कि कहता है कि जब तक मैं नशे में था, मुझे बहुत अच्छा लगा तो क्या कहा जाये? हम सब जानते हैं कि मजा थोड़े समय के लिये होता है जबकि कष्ट लम्बे समय तक भोगना पड़ता है। जब भी मजा की मात्रा बढ़ती है कष्ट की मात्रा कईगुनी हो जाती है। यह ऐसी जीच नहीं है जिसे नजरअंदाज किया जा सके। यह अपरिवर्तनीय है। लेकिन लोग कहते हैं कि इससे क्या फर्क पड़ता है? आपके लिये तो न कोई मजा है और न ही कष्ट। बिल्कुल ठीक है। यही तो हम चाहते हैं। अगर दोनो में से कोई एक भी चीज हम चाहेंगे तो निश्चित रूप से हमें दूसरे को भी भोगना पड़ेगा। संस्कृति का प्रश्न आने पर आप कहते हैं कि आप यूरोपियन हैं और आपके रास्ते अलग हैं। यह भी ठीक है। लेकिन क्या एक लक्ष्य होते हुये भी रास्ते अलग-अलग नहीं हो सकते? क्या हम सब एक ही कक्षा में बैठ कर इतिहास, भूगोल, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजनीति सब कुछ नहीं पढ़ते? हर कक्षा में हम कुछ न कुछ खास चीजें सीखते हैं।

फिर मैं याद करता हूँ कि अपने स्कूल की उस परिचर्चा के सत्र को जो 'समझ और मूल्यांकन पर हुई थी। यूरोप में मैं देखता हूँ कि अगर किसी चीज का आपको मूल्यांकन करना है तो आप उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के लिये उसे खण्ड-खण्ड करके निर्दयतापूर्वक विश्लेषण करते हैं। जैसा यहाँ आप ईसामसीह, सेण्ट जॉन और न जाने और किस-किस के साथ कर रहे हैं। आप यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि उनके जीवन में कोई औरत थी या नहीं? मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि इसे क्या कहना चाहिये लेकिन दूसरों के जीवन में औरतों को खोजने की गंदी, विकृत और कामुकता ग्रस्त अभिरुचि चाहे वह ईसामसीह ही क्यों न हों - आखिर क्या कहती है? अगर उनके जीवन में औरत थी तो क्या हो गया? आपके जीवन में भी तो औरते हैं, मर्द हैं? इससे क्या आप ईसा हो गये? यह प्रश्न हमें खुद से पूछना चाहिये। अगर मान भी लिया जाये कि ईसामसीह के जीवन में कोई औरत थी। उनका किसी से प्रेम संबंध था। इसके बाद भी तो वे लोगों के मसीहा बने और २००० सालों से लोग उनकी शिक्षा का पालन कर रहे हैं। आपकी शिक्षा कब तक रहेगी? क्या आपकी कोई शिक्षा है भी? क्या आपकी कोई ऐसी स्मृति है जो आप अपने पीछे छोड़ जायेंगे? क्या आपके शरीर छोड़ देने के बाद कोई भी व्यक्ति ऐसा होगा जो यह कह सकेगा कि वे ऐसे थे या वे वैसे थे? ईसामसीह के बारे में बोलने

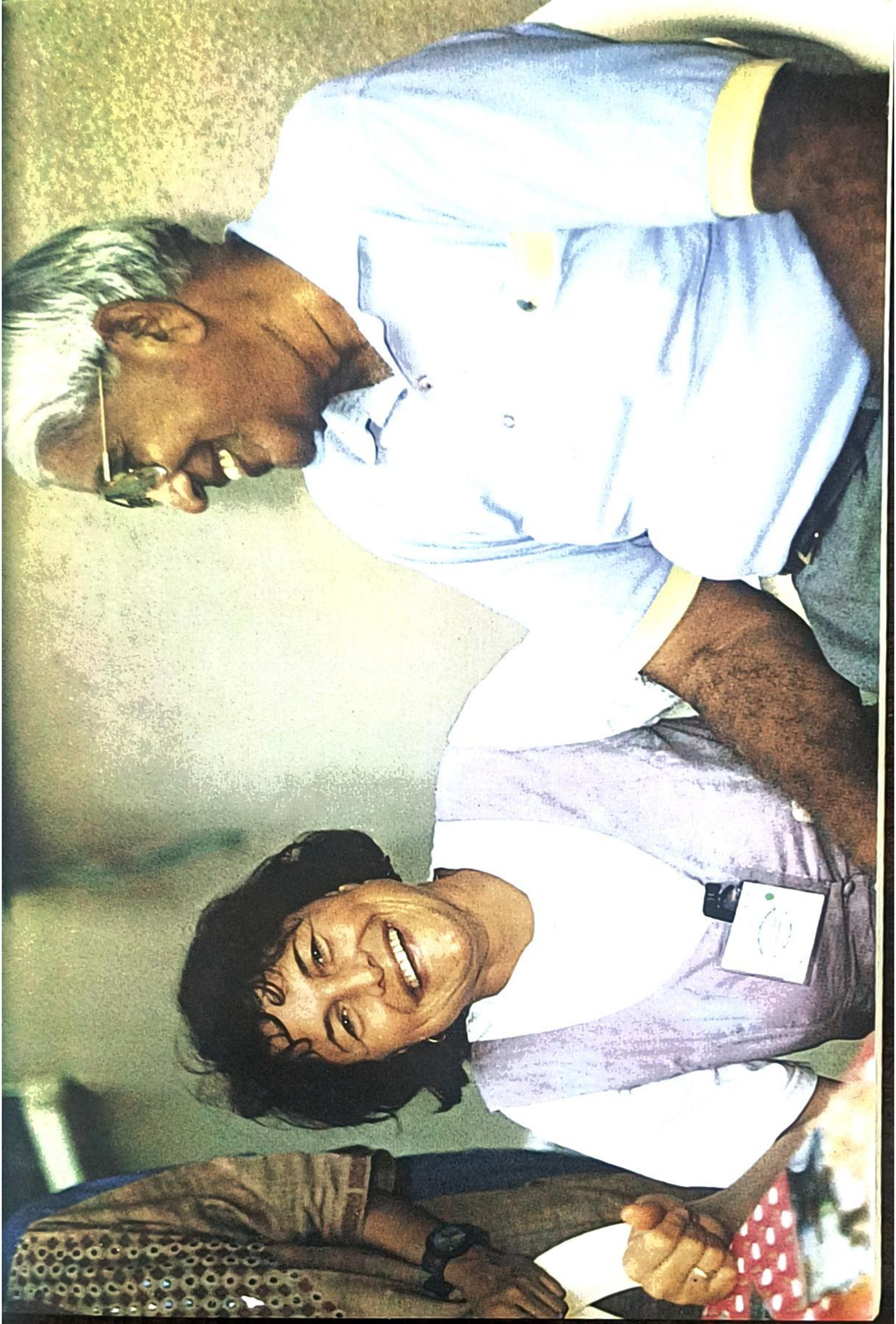

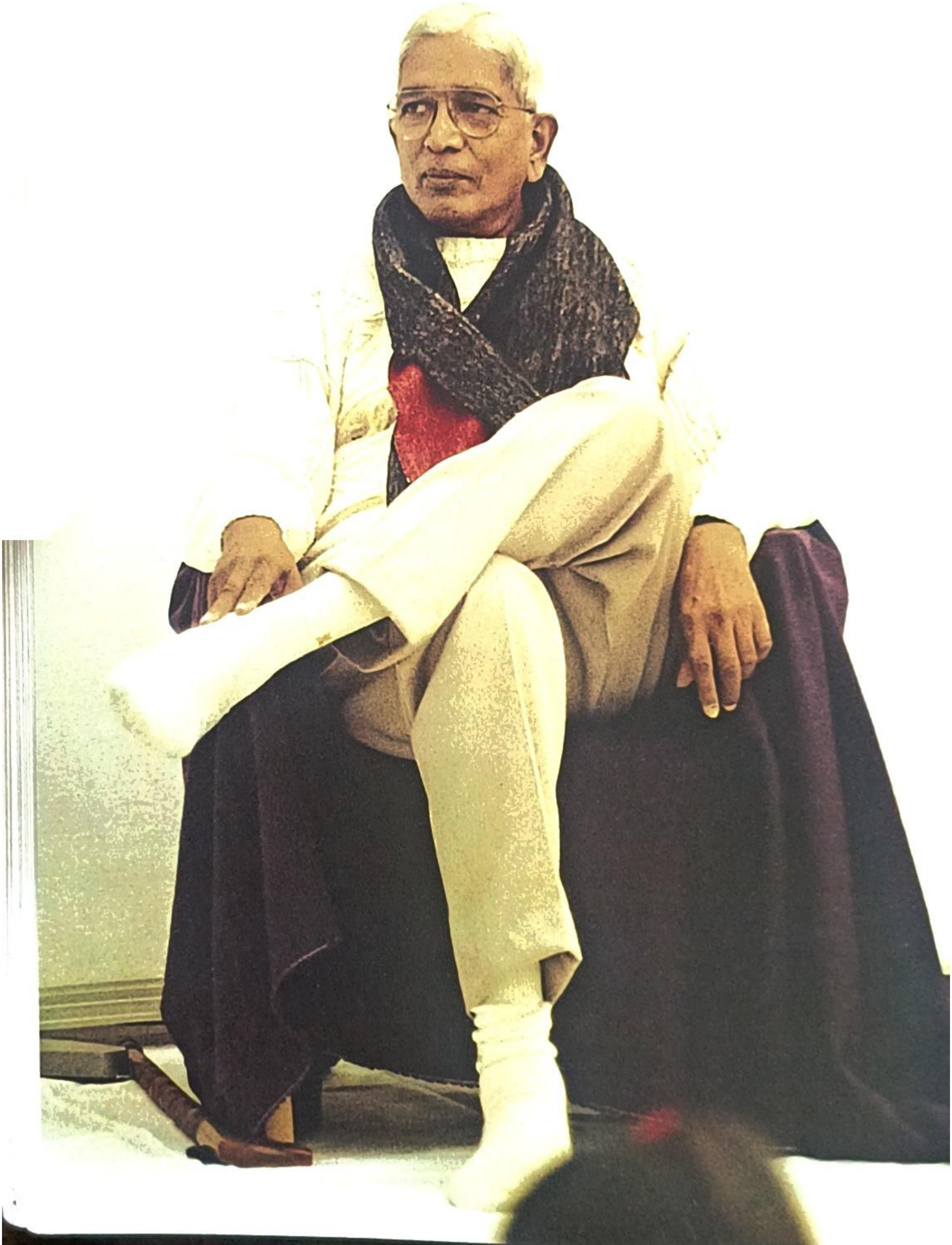

वाले तो आज लाखों में हैं। क्या आपके बारे में बोलने वाला एक भी होगा?

इसलिये मेरा सुझाव है कि आपको ये गंदे, कुत्सित, अश्लील विचार छोड़ देने चाहिये। अगर आपके अंदर कोई बुराई है भी तो यह सोचते हुये कि सांसारिक जीवन में दोनो साथ-साथ रहते हैं, उसे भूल जाइये और अच्छाई की तरफ निगाह रखिये। औरत के बिना मर्द नहीं हो सकता, असत्य के बिना सत्य नहीं हो सकता, द्रव के बिना ठोस नहीं हो सकता, निर्वात के बिना वात नहीं हो सकता। दर्शनशास्त्र कहता है कि दोनो साथ-साथ चलते हैं। आप इन दोनो से ऊपर उठिये चूँकि एक को नकार कर आप दूसरे को नहीं रख सकते।

यही वह समझदारी है जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। क्या और कैसे नहीं? क्यों? हर आदमी जानता है कि नैतिक कैसे बना जाये, सदाचारी कैसे बना जाये। हर आदमी यह भी जानता है नैतिकता क्या है, सदाचार क्या है। हमें यह सब नहीं सीखना है। हर समाज में संस्कृति, व्यवहार, सौम्यता और उच्च मानवीयता के ये मानक मौजूद हैं। इसलिये इस विकसित समाज में इन चीजों का क, ख, ग ... पढ़ाना मूर्खता होगी। इसे तो सब जानते ही हैं। केवल इसलिये कि इस चीज का पालन नहीं किया जा रहा है हम यह समझ लें कि इसकी जानकारी ही लोगों को नहीं है - यह उचित नहीं है। इसका केवल एक ही अर्थ है कि इसे हमने स्वीकार नहीं किया है। भूतकाल में इसे लोगों ने स्वीकार किया था लेकिन आज हम इसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं। आखिर क्यों? स्वयं से हमें यह पूछना होगा। इसके बहुत से जबाब भी मौजूद हैं जैसे बहुत से लोग ऐसा कर रहे हैं। इसके बिना मैं जी ही नहीं सकता। इस प्रकार हम सीधे रास्ते पर न चल कर पीछे और पीछे की ओर उसी कीचड़ में, उसी अज्ञान के दलदल में और स्वयं से पैदा किये हुये दुखों में वृत्त की शक्ल में चलना जारी रखते हैं।

इस प्रकार हम गलतियों को दुहराते हुये बार-बार ऐसा ही जीवन जीते रहते हैं क्योंकि भविष्य की सारी भूलें आकर्षक प्रतीत होती हैं, अच्छा जीवन, मित्रतापूर्ण जीवन, प्रेम से भरा हुआ भविष्य हमें लुभाता रहता है। लेकिन तीन सप्ताह बाद जब फिर दिल टूटता है तो हम सोचते हैं - आखिर ऐसा क्यों होता है? इसलिये चूँकि हम ऐसा होने देते हैं। नहीं, नहीं, यह संस्कारों का परिणाम है। इसका मतलब तो यह है कि आप सफाई नहीं कर रहे हैं। अगर हमारे संस्कार शाश्वत रूप से

हमारे अस्तित्व की उन्हीं गलतियों को दुहराते रहेंगे तो यह स्पष्ट है कि हम अपनी सफाई नहीं कर रहे हैं।

आचरण संबंधी अपनी सभी गलतियों के लिये जिसे हम जान-बूझ कर करते हैं, कोई न कोई बहाना ढूँढ़ते हैं। इस बात से आप बिल्कुल आश्वस्त रहिये कि हममें से अधिकांश ऐसे हैं जो पहले से ही यह जानते हैं कि जिस रास्ते पर हम चल रहे हैं वह रास्ता खतरनाक है लेकिन हम समझते हैं कि सहजमार्ग में होने के कारण चूँकि हमें एक दिव्य मालिक की शरण मिली हुई है, हम हर प्रकार से सुरक्षित हैं। लेकिन यह बचकानी मान्यता कि मालिक हमारे द्वारा जान-बूझ कर की गयी गलतियों से भी हमारी रक्षा करेंगे - हमारी बेवकूफी है। मेरा आपसे आग्रह है कि आप 'मानव विकास में सद्‌गुरु की भूमिका' नामक पुस्तक को दुबारा पढ़ें और अगर आपको उसमें कोई ऐसा विचार मिले तो आप उस पर निशान लगा कर मेरे पास भेज दें ताकि मैं उसे हटा सकूँ। मालिक हमारे द्वारा जान-बूझ कर की गयी गलतियों से हमारी रक्षा नहीं करता। अगर मैं चाकू से अपना गला काटने जा रहा हूँ तो मैं बाबूजी से यह अपेक्षा नहीं कर सकता कि वे मूर्त रूप धारण करके हमारे सामने प्रकट होंगे और मेरे हाँथ से चाकू छीन लेंगे। अगर दुर्घटनावश कोई चीज होती है तो इसकी सम्भावना अवश्य है लेकिन अगर हम कोई कार्य जान-बूझ कर कर रहे हैं तो हमारी सुरक्षा नहीं हो सकती। मानवीय संबंधों के संदर्भ में भी यह बात सत्य है।

रोज मुझे ऐसे पत्र मिलते हैं जिनमें लिखा होता है कि मुझे एक आदमी मिला है और मेरा जीवन बदल रहा है। आखिर आदमियों से मिलने का यह व्यापार कब तक चलेगा? अँग्रेजी में एक कहावत है: दूध का जला मठ्ठा भी फूँक-फूँक कर पीता है लेकिन यहाँ तो एक बार जलने के बाद भी हम दुबारा जलना चाहते हैं। दो बार जल गये तो तिबारा जलना चाहते हैं। तीन बार जल गये तो चौथी बार इसकी पुष्टि करना चाहते हैं। इसके बाद भी हम 'अब नहीं' नहीं कहते। पाँचवीं बार फिर वही। हम कहते हैं: दरअसल मैंने सोचा भाग्य तो बदलेगा ही। आप तो हमेशा परिवर्तन की बात करते रहते हैं। आखिर मेरा जीवन क्यों नहीं बदलता? परिवर्तन है और आपका जलना भी सत्य है लेकिन जो वस्तु आपको जला रही है, जिस वस्तु के काटने से आपको जलन हो रही हे वह हर बार बदल जाती है। एक बार यह मख्खी होती है, दूसरी बार मधुमख्खी, फिर साँप, फिर बिच्छू। अब ऐसे में कौन आकर आपकी रक्षा करेगा। रक्षा के लिये पात्रता आवश्यक है। मैं तो

किसी ऐसी सुरक्षा में विश्वास नहीं करता जो अपने आप हो जाये। मेरा तो सोचना है कि अगर मालिक मेरी रक्षा करेगा तो ईश्वर क्यों नहीं करता? आखिरकार वही तो हमारा परम प्रियतम है, प्रेमी है या यों कहें कि स्वयं प्रेम है। वह क्या कर रहा है? क्या उसे हमारी रक्षा नहीं करनी चाहिये? वह हमारी रक्षा नहीं करता क्योंकि वह कहता है कि मैंने तुम्हें इच्छाशक्ति दी है और मैंने तुम्हें इसका उचित इस्तेमाल करने के लिये तुम्हें बुद्धि भी दी है। अब अपनी रक्षा करने का दायित्व स्वयं तुम पर है। तुम्हें अपने जीवन का मार्गदर्शन इस तरीके से करना है जिससे यह विनाशकारी प्रभावों से मुक्त रहे। अगर तुम इस दिशा में उचित कदम उठाओगे तो मेरी शक्ति इस काम में तुम्हारी सहायता करेगी। लेकिन अगर तुम जान-बूझ कर ऐसा कार्य करते हो जिसके बारे में तुम जानते हो कि यह गलत है, स्वयं का नाश करने वाला है तो इससे सुरक्षा नहीं हो सकती। यह तो उसी तरह है जैसे आप किसी कार को किसी खड़ी चट्टान पर चलायें और यह अपेक्षा करें कि हजरत मूसा या अल्लाह आकर अपने हाँथ से इसे रोक दें और इसे लाकर फिर से सड़क पर खड़ी करके आपको गले लगाये और आपसे कहे: मेरे पुत्र! दुबारा ऐसा मत करना। ऐसा नहीं होता।

आज पश्चिमी लोगों को यह दु:ख है कि ३ साल के बच्चों को मधुमेह क्यों होता है? बच्चे भयानक एड्स या हृदय की बीमारी के साथ क्यों पैदा होते हैं? आखिर ईश्वर प्रेम है तो ऐसा कैसे सम्भव है? यह इसलिये चूँकि परम लक्ष्य के लिये सही तरीके से जिन्दगी जीने का जो उत्तरदायित्व मुझे मिला है उसे हम बिना अपना संपूर्ण सौंपे यह कहते हुये कि मेरी कोई इच्छा नहीं है, न कोई और लक्ष्य है, मेरा कोई दूसरा भाग्य भी नहीं है, जो कुछ भी है, तुम्हारा ही है, अपने अस्तित्व का मानवीय हिस्सा जो सबसे निकृष्ट है, निम्न है, मूर्खतापूर्ण है, हम अपने पास रखे हुये हैं और अपनी आध्यात्मिक नियति यह सोचते हुये उसे सौंप देना चाहते हैं कि वह सब कुछ भूल कर हमें संत बना देगा।

बाबूजी महाराज कहते थे: या तो आप अपना सब कुछ मुझे दे दो या सब कुछ अपने पास रखो। सब कुछ से उनका तात्पर्य बीमारी और स्वास्थ्य, अच्छा और बुरा दोनो था। लेकिन समस्या यह है कि हम अपना स्वास्थ्य तो अपने पास रखना चाहते हैं, बीमारी उन्हें दे देना चाहते हैं। खुशी तो खुद रखना चाहते हैं कष्ट उन्हें सौंपना चाहते हैं। उन्होंने कहा: यह सौदा मुझे मंजूर नहीं है। या तो सब कुछ दो या कुछ नहीं। अब हममें इतनी समझदारी तो आनी ही चाहिये।

अब यह समझदारी कैसे सिखायी जाये? मेरी समस्या यह है कि मैं कभी भी शिक्षक नहीं रहा। लेकिन मेरा अनुभव कहता है कि शिक्षण के लिये पहली जरूरत यह है कि उसे लोगों के लिये स्वीकार्य बनाया जाये। जब बच्चे दूध नहीं पीते भारत में मातायें अपने स्तन पर थोड़ा शहद लगा देती हैं और बच्चा दूध पीना शुरु कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें प्रलोभन का समावेश करना पड़ता है। लेकिन हमारी समस्या यह है कि आध्यात्मिकता में इस तत्व का समावेश नहीं किया जा सकता। हम आपको आखिर यहाँ कौन सा प्रलोभन दे सकते हैं? तत्काल मुक्ति? लेकिन फिर तो आप ध्यान भी नहीं कर पायेंगे चूँकि आप ध्यान करने के लिये वहाँ होंगे ही नहीं। वस्तुतः इस कार्य में सफलता प्राप्त करना बहुत कठिन है और आध्यात्मिकता के प्रति लोगों में समझ पैदा करना तो वाकई बहुत कठिन है और इस कठिनाई को समाप्त करने के लिये जितना आप सोचते हैं उससे कहीं अधिक शिक्षक को सोचना पड़ता है। अक्सर हम देखते हैं कि ऐसे भी शिक्षक हैं जो इस समस्या को सुलझाये बिना लगे रहते हैं। आप समझें या न समझें - यह आपके ऊपर ही छोड़ देते हैं। इसीलिये हमारी शिक्षा की यह विडम्बना दिखाई देती है कि हर कक्षा में सफलता का प्रतिशत ३० से ज्यादा नहीं होता। अगर शिक्षा की संरचना ठीक प्रकार से की गयी होती, इसके उपागम की संरचना मानवीय आधार पर की गयी होती तो सफलता शत-प्रतिशत होनी चाहिये थी।

यही समस्या है जिस पर हम काबू पाना चाहते हैं। रोज मुझसे मिलने वाले आते हैं। इनमें से कुछ सहजमार्ग को स्वीकार तो नहीं करते लेकिन इसका अनुकरण करते हैं। कुछ प्राणाहुति का अनुभव नहीं करते लेकिन इसे प्राप्त करते हैं। कुछ को यह नहीं पता कि वे यहाँ क्यों हैं लेकिन वे आज भी यहाँ हैं। आपको वह चीनी कहावत पता है जिसमें कहा गया है कि अगर आप नहीं जानते .... । मैं इसे दूसरी तरह से कहूँगा: अगर आप यह नहीं जानते कि आप यहाँ क्यों हैं तो लाभ प्राप्त होने की स्थिति में आप कैसे उसे स्वीकार कर पायेंगे - चूँकि आप जानते ही नहीं कि इससे क्या लाभ है? यह वैसे ही है जैसे मैं किसी फ्रेंच या चीनी रेस्तराँ में चला जाऊँ जहाँ व्यंजनों की सूची फ्रेंच भाषा में लिखी हो। अब मैं अपनी आँख बंद करके टिक-टिक करता हूँ और बैरे के आने पर उसे कह देता हूँ कि यह लाओ और वह घोंघे और शम्बूक जैसे घृणित पदार्थ ले आता है। हो सकता है कि

फ्राँसीसी लोग इसे बहुत पसंद करते हों लेकिन मेरे लिये तो यह घृणित ही है। इसलिये मैं फ्राँसीसी मेनू के साथ इस तरह का खेल नहीं खेल सकता। मुझे पहले किसी व्यक्ति से पूछना चाहिये कि यह क्या है और अगर वह कहता है कि यह बहुत अच्छी चीज है। इसे खाकर देखो। यह फ्राँसीसी पाक्कला का अत्यन्त सुस्वादु भोज्य पदार्थ है। लेकिन जब यह मेरी समझ में आता है तो फिर मैं पाता हूँ कि यह वही घृणित पदार्थ है - घोंघा या ऐसी ही कोई और चीज। इसलिये यह आवश्यक है कि हमारे शिक्षक को भी हमारी आवश्यकता के बारे में पता हो। हमें क्या चाहिये? क्या कभी भी हमने अपनी आवश्यकता का मूल्यांकन किया है - अपनी इच्छाओं का नहीं बल्कि अपनी आवश्यकताओं का? क्या हमें आध्यात्मिकता की आवश्यकता है भी या हम यहाँ केवल दिल्लगी के लिये हैं? खाली समय बिताने के लिये फ्रेंच लोग बहुत अधिक परेशान रहते हैं। नहीं, नहीं, मैं तो अपना खाली समय बिताने ओजराँ आया हूँ। लेकिन आप यहाँ करोगे क्या?

इसलिये जब तक आपकी इच्छायें या हमें कहना चाहिये कि आवश्कतायें स्पष्ट नहीं हो जातीं, अपनी किसी भी स्थिति के लिये, मालिक को यह लिखना कि मालिक! मेरी मदद कीजिये, व्यर्थ है। मुझे सैकड़ों पत्र मिलते हैं - किसी में मदद की माँग होती है, किसी में आशीर्वाद की माँग होती है लेकिन बहुत ही दु:ख का विषय है कि किसी में आध्यात्मिक ज्ञान की माँग नहीं होती।

इसलिये मैं समझता हूँ कि हमारे लिये पहली शिक्षा, जिसके साथ मैं आज के इस सत्र का समापन करूँगा, तो यही है कि हम पहले अपनी आवश्यकताओं का मूल्यांकन करें। आप तय कर लीजिये कि आप क्या होना चाहते हैं या क्या बनना चाहते हैं? यह तो हम जानते ही हैं कि हम क्या हैं। हम क्या बनना चाहते हैं? क्या हमने इसे अच्छी तरह समझ लिया है? जब मैं कहता हूँ कि मैं एक परिपूर्ण मानव बनना चाहता हूँ तो क्या मैं इसे समझता भी हूँ कि परिपूर्ण मानव कैसा होता है? क्या मैं जैसा हूँ वैसा रहते हुये ही परिपूर्ण मानव बन सकता हूँ? क्या मैं कई लोगों के साथ अपना प्रेम संबंध जारी रखते हुये, कई लोगों के साथ अपना लगाव कायम रखते हुये परिपूर्ण मानव बन सकता हूँ? आखिर यह कहने का क्या मतलब है कि मेरा हृदय मालिक का हृदय है जब हम इस हृदय को हर पखवाड़े, हर सप्ताह, हर दिन बाजार में बेचते रहते हैं? अगर वाकई यह मालिक का है तो इसे आप किसी और को कैसे दे सकते हैं? अगर अभी भी आप इसे अपने पास ही रखे हुये

हैं, इसका सौदा कर रहे हैं, मोल-तोल कर रहे हैं तो फिर ईमानदारी से आप यह बात कैसे कह सकते हैं कि आपने अपना हृदय मालिक को दे दिया है? अगर आपका हृदय मालिक के पास है तो आपका शरीर दूसरी जगह कैसे हो सकता है? क्या हृदय शरीर के अंदर नहीं है? निश्चित ही यह शरीर के अंदर है जब तक शरीर जीवित है। फिर यह कैसे हो सकता है कि हृदय वहाँ हो और शरीर यहाँ?

वस्तुत: इन सारे मौलिक प्रश्नों का जबाब दिया जाना जरूरी है क्योंकि प्रेम तो हमारे अस्तित्व का मूल है। इसीलिये आध्यात्मिकता केवल प्रेम का ही दिग्दर्शन करती है। ईश्वर प्रेम है और वह परिपूर्ण और अंतिम दशा भी और कुछ न होकर शुद्ध प्रेम ही है जहाँ हम स्वयं ही प्रेम बन जाते हैं। लेकिन जब तक हम अग्नि की तरह हमेशा चिन्गारी फेंकते रहेंगे स्वयं प्रेम कैसे बन सकते हैं? हमें चाहिये कि हम इसे अपने अंदर सुरक्षित करके रखें और इसे परिपक्व होने दें।

अगर हम चाहते हैं कि हमें अच्छी ह्रिस्की या अच्छी शराब पीने को मिले तो निश्चित रूप से हमें इसके अच्छी तरह से तैयार होने की प्रतीक्षा करनी होगी। आपको इसे शराब के भण्डार में रख कर कई सालों के लिये इसे भूल जाना होता है। लेकिन हम अपने इन प्रेम संबंधों को नहीं भूल पा रहे हैं। हर समय यह हमारे ख्यालों में है और अपनी अच्छी या बुरी, नैतिक या अनैतिक, जायज या नाजायज आवश्यकताओं को हम पर लादता रहता है। यह हमारे दरवाजे पर दस्तक देता रहता है और हम इसका जबाब देते रहते हैं। यहाँ तक कि वैसाखियों के सहारे चलने वाला आदमी भी जो इधर-उधर भटक रहा है, इसी के ख्याल में डूबा हुआ है। बिस्तर पर पड़ा आदमी जो चलने-फिरने में असमर्थ है, वह भी इसमें डूबा हुआ है, जवान हो या बूढ़ा - सब इसी में फँसे हुये हैं। इसलिये मेरी मान्यता है कि एक सफल आध्यात्मिक अभ्यासी बनने के लिये यह आवश्यक है कि हम इन मूलभूत प्रश्नों को अच्छी तरह से समझ लें। अगर हम इन चीजों को अच्छी तरह से समझ कर अभ्यास करेंगे तो मुझे उम्मीद है कि निश्चित ही हम एक दिन सफल आध्यात्मिक व्यक्ति बन सकेंगे।

अब प्रश्न उठता है कि हम परिपूर्ण मानव बनने के स्तर तक जहाँ हम स्वयं ही प्रेम – बन जाते हैं, कैसे उठें? उस स्तर तक जहाँ आपके स्वयं प्रेम करने या घृणा करने का प्रश्न ही नहीं रह जाता चूँकि आप

स्वयं ही वह हो जाते हैं। एक हीरा तो हीरा होता है। वह खुद को टुकड़ों में बाँट कर यह नहीं कहता कि मैं बिखरा हुआ हूँ, मेरे कुछ टुकड़ों को यहाँ से उठा लो, कुछ टुकड़ों को वहाँ से उठा लो। ऐसा होने पर थोड़ी ही देर में वहाँ कुछ नहीं रह जायेगा। आज हम अपने अस्तित्व को इसी तरह से खाली कर रहे हैं। कुछ ही सालों में इसमें कुछ भी बाकी नहीं रह जाता - न किसी को देने के लिये, न किसी से कुछ लेने के लिये, बर्तन टूट जाता है और अगर इसमें कुछ रख भी दिया जाये तो हम इसे रोक नहीं पाते।

वस्तुत: मानव अस्तित्व की यह त्रासदी किशोरावस्था से शुरु होती है। आप कहते हैं: चारी! लेकिन उन्हें भी तो इसका अनुभव होना चाहिये। किसका? बुराई का? क्या यह जरूरी है कि वह तब तक इस बात को न जाने कि यह उसके लिये बुरा है जब तक इसके परिणाम में उसे एड्स न हो जाये? क्या यह जरूरी है कि किसी को तीन-तीन शादी करने की इजाजत दी जाये जबकि वह यह भी नहीं जानता कि शादी का मकसद क्या है? मैं नहीं समझ पाता कि पश्चिमी देशों में इस प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करने की इजाजत क्यों दी जाती है जो बच्चों को इन खतरनाक स्थितियों में ले जाकर छोड़ देती हैं। जिन्हें इन चीजों की समझ नहीं है - वे इसमें फँस जाते हैं और तब हम कहते हैं: ओह! मेरी बेटी! १७ साल की है और ....। आज यहाँ ऐसी अनेक १७ साल की लड़कियाँ हैं जिनकी तीन शादियाँ हो चुकी हैं और जो दो बच्चों की माँ हैं। आप समझ सकते हैं कि मेरे लिये इन चीजों को कहना कितना कठिन है चूँकि यह सब कहने पर निश्चित रूप से इसकी प्रतिक्रिया होगी। आप कहेंगे: हमारा समाज ही ऐसा है। हम इसे कैसे छोड़ सकते हैं? लेकिन हमें यह सब छोड़ना होगा। छोड़ने से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि आप अपने समाज को छोड़ दें लेकिन आपको अपनी इस स्थिति से ऊपर उठना होगा।

अगर एक आदमी इन स्थितियों से निकल कर बाहर आ सकता है और विकसित हो सकता है तो दूसरा क्यों नहीं? हमेशा एक आदमी आगे चलता है - हमें रास्ता दिखानें के लिये और हम उसके पीछे चलते हैं। जब आप पहाड़ की किसी चोटी पर चढ़ते हैं एक गाईड आपके आगे-आगे चलता है। वह केवल आपको रास्ता ही नहीं बताता वह यह भी बताता है कि आपके लिये क्या-क्या सम्भव है? अगर वह रास्ते में ही रुक कर बैठ जाये और उसकी साँसें तेज हो जायें तो आप कहेंगे कि मझे कैसा गाईड मिल गया? देखो! यह आदमी स्वयं तो ऊपर

चढ़ नहीं सकता और मुझे ऊपर ले जाने की बात करता है? भगवान के लिये चलो हम गाईड को बदल दें। क्या आप ऐसा नहीं सोचेंगे? वस्तुतः एक सच्चा गाईड केवल शिक्षक ही नहीं होता बल्कि स्वयं में एक दृष्टान्त होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे रात में कोई आदमी अपने हाँथ में लैम्प लेकर आगे-आगे चलता है और आप उसका अनुगमन करते हैं। दरअसल वह रास्ता नहीं दिखाता बल्कि आप उसका अनुगमन कर सकें इसके लिये वह आपके रास्ते को प्रकाशित करता है। आप समझे कि हम ऐसे व्यक्ति का अनुगमन क्यों करते हैं? वह हमें स्वीकार्य है या नहीं? हमें उसका अनुगमन करना चाहिये या नहीं? आखिर इन सभी चीजों को हम कैसे समझ सकते हैं जब तक कि हम उन सभी बातों को नहीं समझ लेते जिसके बारे में यहाँ चर्चा हो रही है? आध्यात्मिकता क्या है? अंतिम लक्ष्य क्या है? भाग्य क्या है? ईश्वर क्या है? प्रेम क्या है? इन सब बातों को जब तक हम ठीक से नहीं समझ लेते - हम कैसे कह सकते हैं कि इस व्यक्ति के भीतर कुछ है जो हमें अपने पीछे आने के लिये प्रेरित कर रहा है? अगर हम उसका अनुगमन बिना यह सब समझे कर रहे हैं तो निश्चित ही यह अंधानुगमन है। अंधविश्वासी अंधानुकरण! ठीक उसी तरह जैसे हम राजनैतिक नेताओं का, फिल्मी तारिकओं का, दंत विशेषज्ञों का अंधानुकरण करते रहते हैं - बिना यह जाने कि हम इनका अनुगमन क्यों कर रहे हैं?

कम से कम यहाँ तो ऐसा नहीं ही होना चाहिये कि मैं ऐसे गुरु का अनुगमन कर रहा हूँ जिसके बारे में मुझे इतना भी नहीं पता कि वह किसका प्रतिनिधित्व कर रहा है, उसने क्या प्राप्त किया है चूँकि हमें यह भी नहीं पता कि हमें क्या प्राप्त करना है? हमें सबसे पहले यह जानना चाहिये कि सहजमार्ग हमें क्या दे सकता है? इसके बारे में थोड़ी समझ तो होनी ही चाहिये। तभी हम यह जान पायेंगे कि जिस चीज की तलाश हमें है वही चीज हम यहाँ पा रहे हैं। तभी हम इस रास्ते पर दृढ़तापूर्वक चलने के लिये उस अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग ठीक से कर पाने में समर्थ हो पाते हैं। जब इस प्रकार का कोई सच्चा अभ्यासी जो अपने आध्यात्मिक विकास में रुचि रखता हो, जिसने सोच-समझ कर इस पद्धति को अपनाया हो, अपने मालिक के बारे में यह जान कर उनको स्वीकार करता है कि ये उसी चीज का प्रतिनिधित्व करते हैं जिस चीज की मुझे तलाश है तभी इस

बात की सम्भावना प्रकट होती है कि वह अपने इस अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर सके, स्वयं उनके जैसा बन सकने का प्रयत्न करे।

इसलिये पहले तो मैं आपसे यही निवेदन करना चाहता हूँ कि आप अधिक से अधिक सहजमार्ग साहित्य का अध्ययन करें। यह पद्धति जिन मूल तत्वों पर जोर देती है - उनको समझें। अन्यथा परेशानी यह होती है कि हम यह भी नहीं जानते कि सहजमार्ग है क्या? लोग मुझसे आकर पूछते हैं: चारीजी! क्या सहजमार्ग एक सम्प्रदाय है? और मेरी परेशानी यह है कि मैं आज भी नहीं जानता कि सम्प्रदाय क्या होता है? यह मेरे हृदय की सच्चाई है। तो लोग मुझे बताते हैं कि सम्प्रदाय वह होता है जहाँ अनेक लोग किसी एक व्यक्ति का अनुकरण करते हैं। अगर सचमुच ऐसा है तब तो राजनीति को सम्प्रदाय होना चाहिये। धर्म को सम्प्रदाय होना चाहिये। हम जाल में फँसाने की इच्छा से मछलियों का पीछा करते हैं - यह भी एक सम्प्रदाय होना चाहिये। मैं समझता हूँ कि हमें उतना ही जानना चाहिये जिसे जानने की हमें जरूरत हो और उन चीजों के बारे में हमें चिन्ता नहीं करना चाहिये जिन चीजों के बारे में हम नहीं जानते। मेरे पास कई ऐसे अभ्यासियों के उदाहरण हैं जो कुछ समय तक बौद्ध पद्धति का फिर लामाओं की पद्धति का अनुसरण करते रहे हैं और इसके बाद उन्होंने मुझे बताया: इन चीजों ने मुझे नष्ट कर दिया, समाप्त कर दिया। अब प्रश्न यह है कि आप वहाँ गये ही क्यों? हमें मालूम ही नहीं कि हम वहाँ किसलिये गये थे और हमें यह भी नहीं पता कि हम यहाँ क्यों हैं? जहाँ आप हैं उससे बाहर जाने की आपको आवश्यकता क्या है? एक गाय बेशक यह समझ सकती है कि इस मैदान की अपेक्षा उस मैदान की घास ज्याद हरी है। कहावत है: दूर के ढोल सुहावन होते हैं। लेकिन हमलोग गाय तो नहीं हैं। अगर हम यह जानते हैं कि यहाँ हमें क्या दिया जा रहा है, यह वृद्ध व्यक्ति वहाँ बैठ कर हमारे लिये क्या करने का प्रयत्न कर रहा है, मैं समझ सकता हूँ कि चूँकि उसने स्वयं इसे प्राप्त कर लिया है, वह हमें भी इसे प्राप्त कराने का प्रयत्न कर रहा है। यहाँ किसी प्रकार का कोई चमत्कार प्रदर्शन नहीं है इसलिये हमें भरोसा करना पड़ता है। यहाँ कोई खड़ा होकर यह नहीं कहता कि वह ईसामसीह है, हनुमान है, कृष्ण है इसलिये उसकी ओर देखो।

केवल पद्धति की यह व्यापक समझ ही हमें एक सच्चा अभ्यासी बना सकती है। केवल तभी हमारी प्रगति सम्भव है। अन्यथा जो प्रगति हमारी हो रही है - आकस्मिक है, प्रासंगिक है। यह देने वाले के ऊपर

है कि वह हमें कुछ दे दे। जैसा बाबूजी महाराज कहते थे: जो कोई भी मेरे पास आता है उसके सामने कुछ टुकड़े मैं जरूर फेंक देता हूँ लेकिन असली चीज तो सच्चे जिज्ञासु के लिये सुरक्षित रखी जाती है।

धन्यवाद !

।।

ओज़राँ, फ्राँस

जुलाई १०, १९९१

जुलाई १०, १९९१

बाबूजी महाराज कहा करते थे: प्रशिक्षण बहुत कठिन प्रक्रिया है चूँकि सामान्यतया हम एक स्तर पर प्रशिक्षण का काम करते हैं जबकि वास्तविक प्रशिक्षण विभिन्न स्तरों पर किया जाता है। इसीलिये वास्तविक शिक्षकों की कमी है जबकि सामान्य शिक्षकों की संख्या प्रचुर है। असली प्रशिक्षण तो वह है जिसमें शिक्षक को पढ़ाना नहीं पड़ता और विद्यार्थी सीखता जाता है। अब भले ही यह बात अजीब सी लगती हो कि बिना शिक्षक के पढ़ाये ही विद्यार्थी सीखता जाता है लेकिन यही परम्परा भी कहती है और यही सच्चाई भी। सर्वोत्तम शिक्षा आत्मसात की जाती है, पढ़ाई नहीं जाती। इसे मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाये तो ऐसा प्रतीत होता है कि सिखाये जाने का हमेशा प्रतिरोध होता है चूँकि यह हमारे अहंकार को ठेस पहुँचाता है। मैं कहता हूँ: मैं सब कुछ जानता हूँ, मुझे कुछ भी सीखने को बाकी नहीं है। हम ऐसा बचपन से ही सोचने लगते हैं।

मैंने शुरु से ही अपने पोते को बड़ा होते हुये देखा है और यह मेरे लिये एक बहुत बड़ी शिक्षा रही है। सारी सम्भावनाओं को मैंने ८ या ९ माह के बच्चे के साथ खुद बखुद प्रकट होते देखा है जब वह चाहता है कि वह सब कुछ स्वयं करे। लेकिन मैंने पाया है कि बच्चे के इस चाहने में एक बहुत बड़ा अंतर है। वह सब कुछ स्वयं इसलिये करना चाहता है चूँकि वह अपने वातावरण पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है। लेकिन बड़े होने पर हम सब कुछ केवल इसलिये करना चाहते हैं क्योंकि हम दूसरों को यह दिखा देना चाहते हैं कि हम सब कुछ कर सकते हैं। और बाद में जब हमारा अहंकार अपनी भूमिका अदा करने लगता है तो हम सब कुछ अकेले करना चाहते हैं। हम कहते हैं: मैं इस काम को अकेले ही करने में सक्षम हूँ। अब अगर हम इन तीनों दृष्टियों से इस पर विचार करें तो पहले जहाँ हम अपने वातावरण पर अपना स्वामित्व चाहते हैं, वहीं दूसरी अवस्था में हम यह दिखा देना चाहते हैं कि हम इसे कर सकते हैं और तीसरी अवस्था में हम अहंकारपूर्ण प्रदर्शन के साथ कहते हैं कि हम अकेले ही इसे कर सकते हैं। यहाँ हमें तीन विभिन्न शक्तियों की मनोरंजक अंत:क्रिया दिखाई देती

है। पहली अवस्था में अहंकार नहीं होता। मैं नहीं जानता कि मेरी इस बात से मनोवैज्ञानिक लोग सहमत होंगे या नहीं? लेकिन ८, १२, १८ माह की अवस्था में वाकई अहंकार नहीं होता। बच्चा इसे करना चाहता है, वह इसे करना सीखना चाहता है। इसलिये वह सारे अवसरों को झपट लेता है। इस प्रक्रिया में वह स्वयं गिरता है, आहत होता है और अपनी माँ की परेशानी का कारण बनता है। लेकिन यह एक प्रक्रिया है जिससे होकर हम सबों को गुजरना होता है। बीच की अवस्था में योग्यतायें तो स्थिर रहती हैं लेकिन अहंकार बढ़ता जाता है और अंतिम अवस्था में सम्भवत: केवल अहंकार ही बचा रह जाता है।

इसलिये हम जैसे-जैसे बड़े होते हैं सीखने के प्रति हमारा प्रतिरोध बढ़ता जाता है। बच्चा तो खुद से सीखता है। यह कहना कि माँ-बाप उसे कुछ सिखाते हैं, न केवल माँ-बाप के अहंकार को प्रदर्शित करता है बल्कि इससे यह भी प्रदर्शित होता है कि वे इस बारे में बिल्कुल कुछ नहीं जानते। बच्चा स्वयं करके सीखता है। सहजमार्ग में भी हम अभ्यासियों को स्वयं करके सीखने की इजाजत देकर इसी तरीके को अमल में लाते हैं। मैं पारम्परिक पुस्तकीय ज्ञान और भाषायी ज्ञान की बात नहीं कर रहा हूँ। हालाँकि वहाँ भी यह सिद्धान्त लागू होता है कि जब तक आप किसी चीज को सीखने की इच्छा नहीं रखते कोई भी शिक्षक आपको कुछ भी सिखा नहीं सकता। आप किसी घोड़े को तालाब तक तो ले जा सकते हैं लेकिन आप उसे पानी नहीं पिला सकते। यह केवल मुहाबरा नहीं है सच्चाई भी है। सच्चाई ही आगे चल कर मुहाबरा बन जाती है। मैं क्यों नहीं सीख सकता? क्योंकि मैं सीखना नहीं चाहता।

मुझे पता है कि मेरे तीनों फ्राँसीसी शिक्षकों को मुझे फ्रेंच सिखाने में कितनी मेहनत करनी पड़ी हालाँकि वे मुझे बहुत कुछ नहीं सिखा पाये इसीलिये आज भी मैं आपलोगों से अँग्रेजी में ही बात कर रहा हूँ। अगर मैंने स्वयं को उचित रूप में लगाया होता तो आज यह सब आपलोगों को फ्रेंच में ही सुनने को मिलता। मैं बहुत ही सामान्य अँग्रेजी बोल रहा हूँ। अगर मैं चाहता तो केवल ८०० शब्दों का प्रयोग करके भी आपसे बात कर सकता था लेकिन यहाँ भी मेरा अहकार छिपा हुआ है कि मैं आध्यात्मिक कार्य कर रहा हूँ इसलिये मेरे लिये कोई जरूरी नहीं है कि मैं भिन्न-भिन्न भाषाओं में बोलूँ। इस तरह देखा जाये तो किसी भाषा को न जानना भी हमारे अहंकार का ही द्योतक है। सामान्यतया तो हम कुछ सीखते हैं, जानते हैं और अहंकारी हो जाते हैं लेकिन बाद में हम

कहते हैं: हम नहीं जानते और हमें जानने की जरूरत भी क्या है, हम जानना ही नहीं चाहते और हम क्यों जानें? इस तरह अहंकार केवल किसी काम को करने में ही नहीं है बल्कि उसे नहीं करने में भी है। यह क्रिया के हर क्षेत्र में है। जैसे जूलियस सीजर ने सीनेट को कहा: मैं नहीं आऊँगा। मैं बिल्कुल नहीं आऊँगा। पहले उसने कहा था: मैं नहीं आ पाऊँगा। फिर शेक्सपियर के अनुसार कैसियस उससे पूछता है: सीजर! लेकिन क्यों? आखिर मैं उनलोगों से क्या कहूँगा? तब वह घमंड के साथ कहता है: जाकर कह दो कि सीजर नहीं आयेगा।

इस तरह यह दिखाई देता है कि हमारा अहंकार बढ़ता जाता है। पहले हम समझते हैं कि हम नहीं सीख पायेंगे और बाद में हम कहते हैं कि हम नहीं सीखेंगे। किसी शिक्षक के लिये यह अहंकार बहुत परेशानी की बात है। मैं नहीं जानता कि कितने शिक्षक ऐसे हैं जो इस समस्या को पहचान पाते हैं। वे यही सोचते हैं कि विद्यार्थी मूर्ख हैं। लेकिन मैं ऐसा नहीं सोचता। कोई भी विद्यार्थी मूर्ख नहीं होता। एक बार एक गणित के प्रध्यापक से मेरी एक रोचक वार्ता हुई। आज सम्भवत: वे यहाँ हैं भी और वे तथाकथित मूर्ख या असफल लोगों के साथ कोई प्रयोग करके उन्हें ११-१२ साल की उम्र में उपयुक्त डिग्री के लिये तैयार करने जा रहे हैं। मैं समझता हूँ कि अपने प्रयोग में विविधता लाने की दृष्टि से वे मुझ जैसे ६४ साल के मूर्ख लोगों को भी उसी परीक्षा के लिये तैयार कर सकते हैं। अब अगर वह मूर्ख व्यक्ति उनके साथ सहयोग करे तो वे उसके साथ किसी तरह का प्रयोग कर सकते हैं। मैं तो मानता हूँ कि हम स्वयं पर मूर्खता आरोपित कर लेते हैं वरना मूर्खता जैसी कोई चीज होती ही नहीं। मूर्ख वही है जिसने अपने दिमाग की खिड़कियों को बंद कर रखा है, कुछ सीखना ही नहीं चाहता और घमंड के साथ कहता है: मैं नहीं सीखूँगा। एक अच्छे शिक्षक को चाहिये कि वह किसी भी तरह उसकी इस अनिच्छा को समाप्त करे, अनिच्छा के इस आवरण से, जो उसने खुद ही अपने ऊपर लपेट रखा है, उसे बाहर निकाले। अगर वह ऐसा कर पाता है तो समझिये कि उसने युद्ध जीत लिया है।

अभ्यासियों के साथ भी हमें इसी समस्या का सामना करना पड़ता है। वे कहते हैं: मैं क्यों ध्यान करूँ? मैं नहीं जानता कि यूरोप में यह प्रश्न पूछा जाता है या नहीं? भारत में तो अक्सर ही हमें इस प्रश्न का उत्तर देने को तैयार रहना पड़ता है। अगर बाबूजी विशिष्ट व्यक्तित्व हैं, ईश्वर के अवतार हैं तो वे हमें ऐसे ही क्यों नहीं मुक्त कर देते?

हमें क्यों ध्यान, सफाई और इन तमाम मूर्खतापूर्ण क्रियाओं को करने की सलाह दी जाती है? मुझे भी आश्चर्य होता था कि ऐसा क्यों नहीं हो सकता? हम बाबूजी के पास जाते और वे कहते: अच्छा, आप आ गये। आपको मुक्त करता हूँ। यह कितना अच्छा होता। लेकिन फिर जिन्दगी में मजा ही क्या रह जाता? यह तो वैसे ही है कि आप पहली बार किसी नौकरी की तलाश में गये और आपको प्रबंध निदेशक बना दिया गया। अब इसमें क्या मजा है? हम यह नहीं समझते कि अगर बिना किसी प्रयत्न के हमें कुछ मिल जाये तो हमें इससे संतुष्टि नहीं मिलती। कभी-कभी मुझे संदेह होता है कि हार्वार्ड इन्स्टीच्यूट जैसी संस्थायें जान-बूझकर अपने पाठ्यक्रम को थोड़ा कठिन बना देती हैं जिससे हमारे भीतर उपलब्धि का भाव पैदा हो सके और हम कह सकें कि ओह! मैंने हार्वार्ड से उपाधि अर्जित की है या यू.सी.एल.ए. से उपाधि अर्जित की है। हम अपने पूर्वज वानरों के पास जाकर उसी भाव में अपने हाँथ खड़े करके चिल्ला सकें जैसे जोर्न बर्ग हर बार मैच जीतने पर टेनिस के कोर्ट में करता है। वस्तुत: आज भी हम अपने मूल रूप में वानर ही हैं। हमें उनकी तरह ही अपनी छाती ठोंककर और चीखकर अपनी उपलब्धियों की घोषणा करनी पड़ती है। आज खेल के हर मैदान में यह दृश्य दिखाई देता है। आखिर हम पीछे की ओर क्यों लौट रहे हैं? क्यों नहीं हम लोग दिव्य बनने का प्रयत्न करते और जब भी कोई उपलब्धि हमें होती है, ध्यान में बैठकर उस परम पिता को, उस देने वाले को अपनी तरफ से धन्यवाद अर्पित करते? इसलिये चूँकि हमारा अहंकार हमें ऐसा नहीं करने देता। वह कहता है: मैंने इसे प्राप्त किया है, यह मैंने किया है।

मुझे याद है कि बाबूजी महाराज की महासमाधि के बाद जब मुझे उनका उत्तराधिकारी घोषित किया गया, अमेरिका से किसी ने मुझे एक विशेष प्रकार का बधाई कार्ड भेजा। यह अमेरिका के अलावा दुनिया के और किसी देश से नहीं हो सकता था। इस कार्ड के पाश्र्व भाग में एक चित्र बना हुआ था जिसमें एक सीढ़ी पर एक कुत्ता खड़ा था - जीभ बाहर निकाले हुये, हाँफते हुये, अपने अगले दोनों पैरों को सीढ़ी के शीर्ष पावदान पर रखे हुये! - सबसे ऊपर लिखा था - आखिरकार मैं सफल हो गया। एक विशिष्ट अमेरिकी प्रतिक्रिया! विशिष्ट अमेरिकी मनोभाव और विशिष्ट अमेरिकी कार्ड! वस्तुत: उनके लिये सिवाय उपलब्धियों के जीवन का कोई मकसद ही नहीं है। सीखने की कोई आवश्यकता नहीं, ज्ञान की कोई जरूरत नहीं, बस, सफलता और केवल

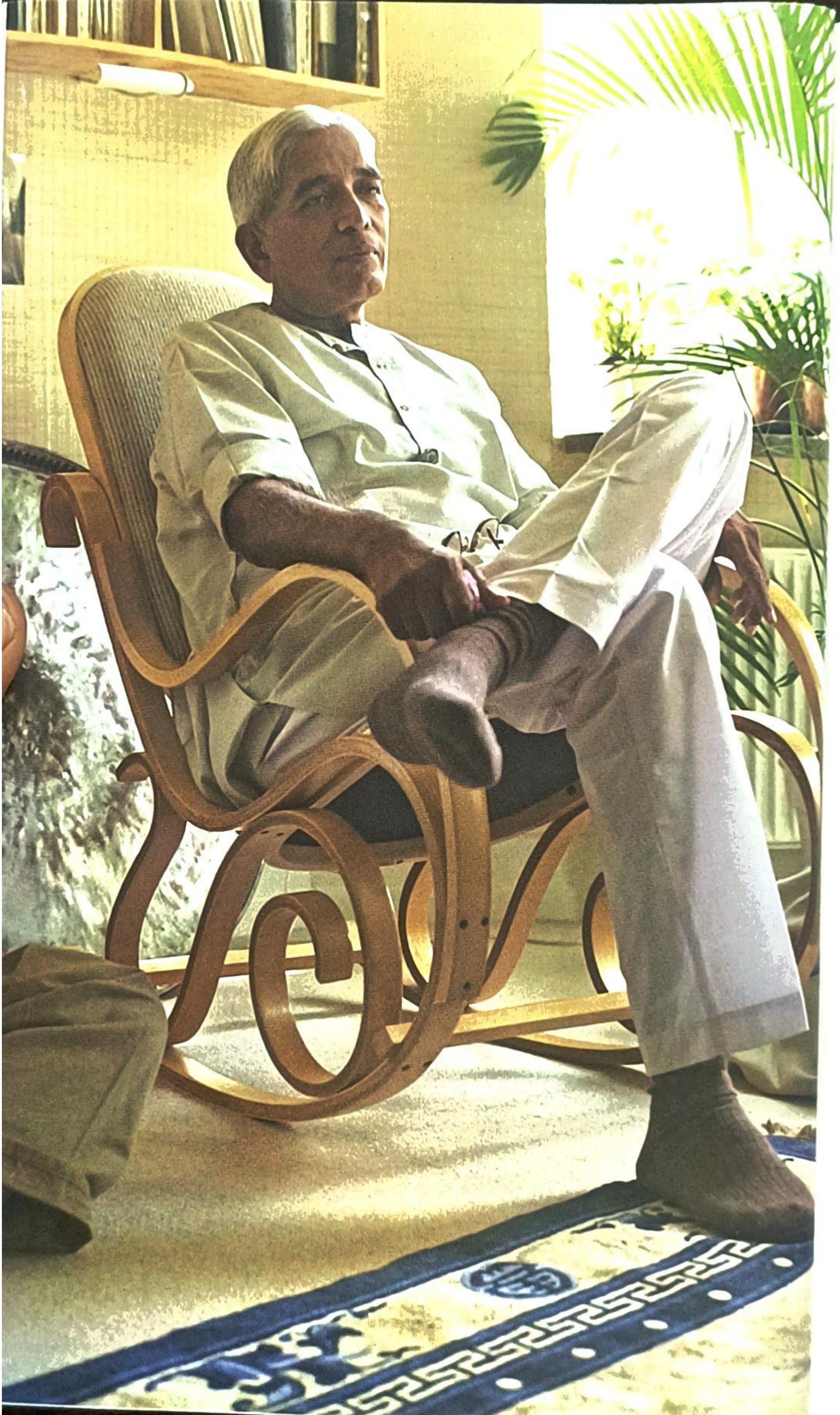

सफलता! वे कहेंगे: देखो! वह कितना सफल इन्सान है? मुझे याद है किसी लड़की ने अपने पिता का मुझसे परिचय कराते हुये कहा था: ये मेरे पिता हैं। इन्होंने मुझे बहुत कुछ उपलब्ध कराया है। उसने यह नहीं कहा कि मैं इन्हें प्यार करती हूँ या ये मुझे प्यार करते हैं। मेरे पिताजी बहुत ही अच्छे हैं। उसने बस इतना कहा कि ये अच्छे दाता हैं। इन्होंने मुझे बहुत कुछ उपलब्ध कराया है। अगर यही एक पिता और उसकी लड़की के बीच का संबंध है कि वह उसके अस्तित्व के लिये जरूरी सभी चीजों को मुहैया कराने वाला एक इन्सान है - अच्छा खाना, दो-चार गैलन कोक और दो-चार केन आइसक्रीम से भरी फ्रिज उसने उसे उपलब्ध करायी है तो निश्चय ही वह एक अच्छा पिता है, अच्छा संभरक है।

दरअसल आज सब कुछ विकृत हो गया है। मानवीय संबंध विकृत हो गये हैं। पति तभी अच्छा माना जाता है जब वह आपको फर और हीरे दे सकता हो। महान किन्से ने स्त्री-पुरुष संबंधों की कुछ विशेषताओं को अपनी रिपोर्ट में रेखांकित किया है जिसके बिना हम समझते हैं कि आज कोई स्त्री-पुरुष संबंध सम्भव ही नहीं है। जीवन का कामुक पक्ष! आपका पति कितना कामुक है? मैं समझता हूँ कि इन लोगों ने कोई तालिका बनायी होगी ...८०%, ९०%, ७५%! यह सब गलत शिक्षा का परिणाम है। लेकिन पश्चिम में हमें इन्हीं परम्पराओं में पाला गया है।

इसीलिये जब लोग सहजमार्ग में आते हैं उन्हें आशा होती है कि उन्हें कुछ अनुभव होंगे। वे कहते हैं: लेकिन मैं तो तीन महीने से ध्यान कर रहा हूँ और मुझे कोई अनुभव नहीं हुआ। अब हमें लोगों को इस बात के लिये शिक्षित करना होगा कि हमारी पद्धति अनुभवात्मक है, विकासात्मक है, क्रान्तिकारी भी है लेकिन यह अनुभवों के लिये नहीं है। हमारे अनुभवों का हमारी प्रगति से कोई संबंध नहीं है। ये अनुभव हमें यह दर्शाते हैं कि हममें किस प्रकार की स्थूलता भरी हुई है जो ध्यान और सफाई की क्रिया द्वारा हमारी संरचना से निकल कर बाहर जा रही है। अगर मैं अशिष्ट उदाहरण दूँ तो कह सकता हूँ कि जब भी आप उलटी करते हैं आप देख सकते हैं कि आपने इसके पहले क्या खाया था। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। आपकी संरचना से गुजरने के कारण यह बदबूदार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ हम एक और चीज पाते हैं कि मानवीय संरचना किसी भी चीज को बदबूदार बना देती है।

आपको मैंने एक लड़के और उसके गुरु से संबंधित एक कहानी सुनायी थी - सम्भवत: वह आपको याद हो। लड़का शिष्य बनना

चाहता था। गुरु ने कहा: गुरुदक्षिणा लाओ। लड़के ने पूछा: गुरुदक्षिणा में कौन सी चीज लाऊँ? गुरु ने कहा: धरती पर जो चीज सबसे ज्यादा निकृष्ट हो। लड़का तीन साल तक निकृष्ट वस्तु की खोज करता रहा। अंत में एक दिन शौच के समय उसे अहसास हुआ कि सबसे बुरी वस्तु तो यह शौच ही है। जैसे ही उसने उसे हाँथ में लेना चाहा, उसमें से आवाज आयी: आखिर तुम चाहते क्या हो? लड़के ने बताया: गुरुदक्षिणा के रूप में तुम्हें गुरुजी के पास ले जा रहा हूँ। उसने पूछा: क्यों? तो उसने बताया: गुरुजी का आदेश है कि धरती पर जो वस्तु सबसे निकृष्ट हो, उसे ले आओ। तब उस आवाज ने कहा: लेकिन कल तो मैं सर्वोत्तम चाकलेट था, स्वादिष्ट पिजा था - तुमने मुझे छुआ और मेरी यह दशा हो गयी। अब तुम खुद ही निर्णय कर लो कि कौन सी वस्तु इस धरती पर सबसे ज्यादा निकृष्ट है? यह सुनकर वह लड़का - संभावित शिष्य अपने गुरु के पास खाली हाँथ ही गया और उनके चरणों में गिर पड़ा। गुरुजी के पूछने पर कि गुरुदक्षिणा कहाँ है - उसने जबाब दिया: मेरे मालिक! मैं ही वह हूँ।

इसलिये अगर अनुभवों का कोई मूल्य है तो वह यही कि ये हमें दिखाते हैं कि हमारे अंदर क्या-क्या भरा हुआ है - वास्तविक अनुभव जिसने अपनी छाप बना दी है, मुक्त हो रहा होता है। ठीक वैसे ही जैसे कोई फोटोग्राफ जब डेवलप किया जाता है, साफ करने पर उभर कर हमारे सामने आता है। अब कुछ लोगों को अनुभव होता है और कुछ को नहीं होता। मेरी राय में तो हममें से क्या बाहर निकल रहा है - यह देखना घिनौना है। मैं ऐसे कई लोगों को जानता हूँ जो कई दिनों तक स्नान नहीं करते और जब कई दिनों के बाद एक दिन स्नान करते हैं तो कहते हैं: अरे! मेरे सिर पर कितनी धूल थी। वस्तुत: हममें क्या गंदा है, क्या अवांछनीय है, क्या अनावश्यक है, क्या विकृति है - यह जानना घिनौना है और हमें यह जानने से बचना चाहिये। कभी-कभी हम बहुत अच्छे अनुभवों से होकर भी गुजरते हैं लेकिन यह भी वही है जिसे हम अपनी संरचना से निकाल कर बाहर फेंकते जा रहे हैं। अब अगर हम अपने इन अनुभवों से घृणा करते हैं या इनमें आसक्त हो जाते हैं तो निश्चय ही ये गहरे होकर फिर से संस्कार का रूप धारण कर लेती हैं। फिर एक नया संस्कार बन जाता है। अब प्रश्न यह है कि इन अनुभवों को वास्तविक अनुभव में कैसे बदला जाये? लोग कहते हैं: हाँ, यह तो ठीक है लेकिन पद्धति ठीक से काम कर रही है - इसे प्रमाणित करने के लिये हमें कुछ अनुभवों की

जरूरत है। यह तो उसी तरह है जैसे कोई १२ साल का लड़का अपने पिता से कहे पिताजी! मुझे थोड़ी उलटी करने दीजिये ताकि मैं यह देख सकूँ कि मैंने वाकई खाना खाया है। लेकिन क्या तुम महसूस नहीं करते कि तुम्हारा पेट भरा हुआ है? क्या तुम्हारी भूख नहीं खत्म हुई? इस तरह हम देखते हैं कि अनेक प्रकार की विचित्र इच्छायें हमारे भीतर बनी रहती हैं हालाँकि हम रोज प्रार्थना में दुहराते रहते हैं कि हमारी इच्छायें हमारी प्रगति में रोड़ा बनी हुई हैं।

वस्तुत: शिक्षण का कार्य बहुत कठिन है। अगर आप कहते हैं कि अधिकांश प्रशिक्षक यह बताते हैं कि अनुभवों का वास्तव में कोई महत्व नहीं है तो ठीक है। लेकिन उन्हें यह स्पष्ट करना भी आना चाहिये कि इनका महत्व क्यों नहीं है या इनका महत्व केवल यह दर्शाने में है कि आपमें कुछ था जो निकल कर बाहर चला गया। उसी तरह जैसे मैं जब किसी ट्रेन में बैठा होता हूँ और स्टेशन गुजरते जाते हैं तो यह हमें दर्शाते हैं कि हम इस दिशा में बढ़ रहे हैं। अगर ट्रेन किसी स्टेशन पर ही खड़ी रह जाती है तो इसका मतलब यह है कि मैं भी कहीं स्थिर हो गया हूँ। मैं भी चल नहीं रहा हूँ। और अगर उलटी दिशा के स्टेशन गुजरने लगते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि हम उलटी दिशा में जा रहे हैं। ये केवल इस बात का संकेत देते हैं हम कितनी तीव्र गति से आगे बढ़ रहे हैं। अगर आप इसे नहीं देख सकते तो आप कुछ नहीं देखेंगे।

इस प्रकार यह देखने का या कुछ महसूस करने का जो हमारा विचार है - वह अस्तित्व के मानवीय स्तर से आगे के अस्तित्व की दशा को हमारे सामने ले आता है। यह हवा को मीटर स्केल में नापने की कोशिश करने जैसा है। वस्तुत: हम अनुभवों के एक आयाम को अस्तित्व के दूसरे आयामों में रखने की कोशिश कर रहे हैं और इसका परिणाम भोगते हुये कह रहे हैं: मुझे कुछ महसूस नहीं हो रहा है, मैं कुछ नहीं जान पा रहा हूँ, कुछ नहीं देख पा रहा हूँ, सहज़मार्ग मेरे लिये बेकार है। जबकि इसका विपरीत ही सत्य है। जब तक हम कुछ महसूस करते हैं, कुछ देखते हैं, आध्यात्मिकता में हम सबसे निचले पावदान पर खड़े होते हैं। अभ्यासियों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये कि वे इसे पहचान सकें और अगर हम देखते हैं कि उनका जानना अब भी जारी है तो हमें समझ लेना चाहिये कि वे अभी जानने के स्तर पर ही हैं। उन्हें अभी इस स्तर से ऊपर उठकर महसूस करने के स्तर पर जाना है। जब वे इसे भी पार कर जाते हैं तब वे ऐसे स्तर पर पहुँचते

हैं जहाँ कुछ भी नहीं है - न तो कुछ जानने के लिये है, न ही महसूस करने के लिये। यही प्रगति की सच्ची अवस्था है।

फिर यह सब क्यों? फिर यह ध्यान किसलिये? चूँकि हमें इस अवस्था को बनाये रखना है। यह वैसे ही है जैसे पैदा होने के बाद सारी जिन्दगी हमें खाना खाना पड़ता है ताकि हम जीवित रह सकें। विकास के इस स्तर पर ध्यान जारी रखने के कई कारण हैं। पहला कारण तो यही है कि आपके मालिक यह चाहते हैं कि आप ध्यान करें। दूसरा कारण यह है कि आप चाहते हैं कि आग जलती रहे, आपकी यह अवस्था बरकरार रहे। इस तरह इसके कई कारण हैं। जब हम खुद से यह सवाल करते हैं कि मैं यहाँ क्यों हूँ? तो हम एक मौलिक प्रश्न पूछ रहे होते हैं कि मैं यहाँ क्यों हूँ? या मैं यहाँ किसलिये हूँ? जो लोग बुद्धिमान हैं, खुश हैं, स्वस्थ हैं - वे इस प्रकार का प्रश्न नहीं पूछते। इसका मतलब यही है कि अगर हम भी ऐसे होते तो यहाँ नहीं होते। यह प्रश्न केवल वे ही लोग पूछते हैं जो असफल हो जाते हैं, परेशानी में होते हैं। वे पूछते हैं: आखिर मैं यहाँ क्यों हूँ? मैं इतना कष्ट क्यों भोग रहा हूँ? मैं तो कभी नहीं चाहता था कि मैं यहाँ जन्म लूँ। मैं तो कभी यहाँ होना नहीं चाहता था। वस्तुत: यह एक अजीब जिन्दगी है।

हमें बहुत सी चीजों को करके उन्हें समझना है। इसीलिये बाबूजी कहा करते थे: मैं करने की इजाजत देकर उन्हें सिखाता हूँ। आप साईकिल पर चढ़कर और पैडल चलाकर ही साईकिल चलाना सीखते हैं। हो सकता है कि शुरु में संतुलन न कर पाने की हालत में कोई आपको पकड़े रहे ताकि आप कहीं गिर न जायें लेकिन बाद में तो आप खुद ही इसे चलाते हैं। ८.९९ डॉलर की पुस्तक खरीद कर और उसके १३ पाठों को पढ़कर सम्भवत: आप साईकिल चलाना नहीं सीख सकते। न ही आप सूखी जमीन पर पेट के बल लेटकर और हाँथ-पैर इधर उधर चलाकर तैरना सीख सकते हैं। सूखी जमीन पर आप व्यायाम तो कर सकते हैं लेकिन तैरना नहीं सीख सकते। किसी भी कार्य में कुशलता प्राप्त करने के लिये जरूरी है कि हम उस कार्य को करें। यही शिक्षण का मूलभूत पहलू है। आप जिसे सीखना चाहते हैं उस कार्य को आपसे कराकर ही आपको वह चीज सिखाई जा सकती है। लेकिन दुर्भाग्यवश यूनानी और पाश्चात्य परम्पराओं में हम पाते हैं कि वहाँ बताया जाता है कि सीखने के बाद ही हम कोई काम कर सकते हैं।

पाक्कला की पुस्तक इस संदर्भ में एक अनुकरणीय उदाहरण है जिसे मैं मूर्खता कहता हूँ। सही माप, ठीक मात्रा - सब कुछ अच्छा है। दो

आलू लेकर उन्हें छीलिये - छील लिया। पानी में उबालिये - उबाल लिया। अब क्या करें? इसके बाद वे आपको कई चीजों के नाम गिना देंगे। अब आपको नहीं पता कि किसको पहले डालना है और किसको बाद में। भूनकर मिलाना है या मिलाकर भूनना है। अब यह सब चीजें आप प्रयोग करके ही सीख सकते हैं। आपने कभी किसी रसोइये को पुस्तक पढ़कर सीखते हुये देखा है? कभी-कभी जब मुझे पाश्चात्य परिवारों में दोपहर के भोजन के लिये या रात के खाने पर बुलाया जाता है तो यह देखकर मुझे हँसी आती है कि एक दर्जन लोग परिवार की उस महिला पर इस बात के लिये इबाव डालते हैं कि उन्हें पाक्कला की पुस्तक दे दी जाये जैसे इस पुस्तक को देखकर वे तुरंत ही एक अच्छे रसोइया बन जायेंगे। यह पुस्तक तो उस मार्गदर्शक पत्थर की तरह ह जो आपको बताता है कि बेलमोन्ट अभी ०.२ कि.मी. है लेकिन २०० मीटर चलने के बाद ही आप बेलमोन्ट पहुँचेंगे। ये पत्थर आपको केवल यह बताते हैं कि वह जगह कितनी दूर है लेकिन वहाँ पहुँचने के लिये चलना तो आपको ही पड़ता है।

आपकी पुस्तकें आपको केवल इतना सिखाती हैं कि आप क्या कर सकते हैं और कैसे कर सकते हैं लेकिन उसे करने के लिये तो आपको स्वयं बैठकर ही उसको करना पड़ेगा। इसलिये किसी चीज को सिखाने में हमें दोनो चीजों का सहारा लेना होगा: उदाहरण बनकर और उपदेश देकर। अब उदाहरण तो मौजूद है। आप कहते हैं: हमें कितना बढ़िया मालिक मिला है लेकिन केवल बढ़िया मालिक का मिलना ही काफी नहीं है। वे बढ़िया तो हैं लेकिन अपने लिये - आपके लिये नहीं। वैसे ही जैसे किसी शीशे की आलमारी में कोई अच्छा सेब रखा है। अब सेब तो अच्छा है लेकिन उसके और हमारे बीच शीशे की दीवार है। इसे खाने के लिये पहले हमें इसे प्राप्त करना होगा।

आध्यात्मिक दशा को प्राप्त करने का सही तरीका क्या है? आप किसी ऐसे व्यक्ति के पास जाइये जिसे आप समझते हैं कि वह आपको वैसी आध्यात्मिक दशा दे सकता है और उसकी आज्ञा का पालन कीजिये। आध्यात्मिक पद्धति में ज्ञान, अनुभव और उपलब्धि का जहाँ तक प्रश्न है पहली शिक्षा तो यही है कि आप आज्ञाकारी बनें। बिना आज्ञाकारी हुये आप कोई शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकते। ऐसा नहीं है कि केवल शिष्य को ही आज्ञाकारी होना है गुरु को भी आज्ञाकारी बनना पड़ता है। गुरु अपनी कर्तव्य भावना के पालन में, अपने ज्ञान को

दूसरों को हस्तांतरित करने में, अपनी उपलब्धियों को दूसरों को प्रदान करने में आज्ञा का पालन करता है। वह अपनी अंत:प्रेरणा का अनुपालन करता है। संक्षेप में कहा जाये तो यह उदारता, दयालुता और सबसे ज्यादा मानवता के प्रति प्रेम की प्रेरणा है जो उसे ऐसा करने के लिये बाध्य कर देती है। इसके अतिरिक्त उसके ऊपर और कोई बाध्यता नहीं है। यह वैसे ही है जैसे आप अपने बच्चे को प्रेम के वशीभूत होकर खाना खिलाते हैं। अगर मैं कहूँ कि आप अपने बच्चे को खाना खिलाने के लिये बाध्य हैं तो आप कहेंगे: चारी! आप क्या बेकार की बातें कर रहे हैं? मेरे लिये इसमें कोई बाध्यता नहीं है। मैं तो इसे अपनी इच्छा से कर रहा हूँ। लेकिन क्यों? अपने पड़ोसी के बच्चे को आप क्यों नहीं खिलाते? क्योंकि आप अपने बच्चे को प्यार करते हैं पड़ोसी के बच्चे को प्यार नहीं करते। आप कहेंगे: हाँ, ईसामसीह ने कहा: पड़ोसी को भी उसी तरह प्यार करो जैसे खुद को प्यार करते हो लेकिन उन्होंने यह तो नहीं कहा कि पड़ोसी के बच्चे को भी उसी तरह प्यार करो जैसे अपने बच्चे को प्यार करते हो। ठीक है, लेकिन आप तो अभी तक अपने पड़ोसी को प्यार करने में भी समर्थ नहीं हैं आप उसके बच्चे को कैसे प्यार कर सकते हैं? फिर भी आप अपने बच्चे को प्यार करते हैं - उस पर आप अपना पैसा खर्च करते हैं, अपना प्रेम लुटाते हैं और सच पूछा जाये तो अपनी सुरक्षा और अपना भविष्य आप उसी के पास गिरवी रख देते हैं।

गुरु और शिष्य के बीच भी कुछ इसी तरह का संबंध होना चाहिये। गुरु की तरफ से शिष्य की ओर निरन्तर प्रेम का प्रवाह होना चाहियें और शिष्य को गुरु के प्रति आज्ञाकारी होना चाहिये। यह कहना कि शिष्य को चाहिये कि वह अपने गुरु को प्रेम करे - शुरुआत में यह लगभग असम्भव चीज है। ऐसे अभ्यासी जो कहना शुरु कर देते हैं: चारी! कृपया मुझे बताइये मैं कैसे मालिक को प्यार करूँ? मैं मालिक को प्यार करना चाहता हूँ। उनके बारे में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वे सनकी हैं। यह सम्भव नहीं है और यह अच्छा भी है कि यह सम्भव नहीं है और शुरुआत में यह कभी भी सम्भव नहीं होगा। हाँ, अंत में यह जरूर विकसित होना चाहिये। चूँकि जब यह सहअस्तित्व पैदा हो जाता है - वह हमें प्यार करते हैं और मैं उनके अपने प्रति प्रेम के कारण उनके प्रति आज्ञाकारी रहता हूँ तो सारे स्तरों पर सारी शिक्षायें सम्भव हो पाती हैं। अगर मैं केवल शारीरिक स्तर पर ही उनको प्यार करता हूँ - मानसिक, बौद्धिक और हृदय के अंतस्थल से नहीं तो फिर

इस संबंध को क्या कहा जा सकता है। मैं तो यही कहूँगा कि यह एक प्रकार की वेश्यावृति है। यह तो वैसे ही है जैसे कोई औरत अपना शरीर तो दूसरों को दे देती है लेकिन दिल नहीं।

इसपर विचार करने पर हम पाते हैं कि या तो दोनो के मध्य प्रेम का संबंध होता है या फिर केवल व्यापार होता है। यह दुर्भाग्य ही है कि आपके यहाँ व्यापारगत विश्लेषण भी मनोविज्ञान की एक विधा है। यह बहुत ही सही और प्रभावी तरीके से इस संस्कृति में प्रचलित आज के मानस को दर्शाता है। मेरे लिये तो यह दु:ख और शर्म की बात है कि मनुष्यों के बीच भी इस प्रकार का व्यापारिक संबंध हो। इस तरह आप देखते हैं कि एक तरफ से देखने पर चीजें जहाँ बिल्कुल विकृत दिखाई देती हैं वहीं दूसरी तरफ से देखने पर यही चीजें उत्कृष्ट दिखाई देने लगती हैं। हमें यह कोशिश करनी है कि हम दोनों दृष्टियों से चीजों को देखें और उनमें संतुलन स्थापित करें। जब हम बादलों को नीचे से देखते हैं वे गहरे दिखाई देते हैं लेकिन जब हम इन्हीं बादलों को ऊपर से देखते हैं हम पाते हैं कि उनमें चाँदी सी चमक है। यह इस तथ्य का खुलासा करता है कि भौतिक जीवन में भी जहाँ एक ओर चीजों का अच्छा पक्ष है वहीं दूसरी ओर उन्हीं चीजों का बुरा पक्ष भी है। अब आलू को पका दिया जाये तो वह कितना स्वादिष्ट हो जाता है लेकिन यह भी सत्य है कि बाद में इससे हमें गैस की शिकायत हो जाती है। देखने में आर्टिचोक कितना अच्छा लगता है लेकिन इसे खाना कितना बेवकूफी भरा काम है। इससे हम इस सत्य पर पहुँचते हैं कि जीवन दो विपरीत पक्षों का समन्वय है।

जीवन बिना इन दोनो पक्षों की अंत:क्रिया के नहीं चल सकता। दु:ख और सुख दोनो जरूरी हैं। अच्छाई और बुराई, बीमारी और स्वास्थ्य, शोक और उल्लास दोनो का महत्व है। अगर कोई चाहता है कि उसे केवल एक ही चीज मिले तो निश्चय ही उसे दूसरी चीज को भी खोना पड़ेगा। अगर आप आनन्द की तलाश में हैं तो निश्चय ही आपको कष्ट भी भोगना होगा - इसमें कोई सोचने की बात नहीं है। अब इसमें ऐसी कोई बात नहीं है कि आप अपने आध्यात्मिक गुरु के पास दौड़ कर जायें और उनसे पूछें कि महोदय! यह दर्द क्यों है? सनातन काल से मानव जाति द्वारा पूछा जाने वाला यह मानक प्रश्न हैं। अब आपको इतना समझदार होना चाहिये कि आप यह समझ सकें कि जैसे किसी सिक्के में उसके दो सिरे होते हैं - चित और पट उसी

तरह जीवन के भी दो पक्ष होते हैं - दो बिल्कुल विपरीत सिरे और हम इनमें से किसी एक को नजरअंदाज नहीं कर सकते - दुख और सुख दोनो ही होंगे और यह तो सिक्का उछालने जैसी बात है - कौन सिरा पहले आयेगा कौन जानता है? यह तो एक प्रकार का जुआ है। इस दृष्टि से विचार करें तो हम पाते हैं कि जीवन एक जुआ है।

लेकिन आध्यात्मिकता कहती है कि हम इस द्वन्द से बच सकते हैं। अगर हम सुख की जगह दु:ख की कामना करें तो निश्चिय ही सुख हमारा पीछा करेगा। दरअसल तपस्या का विचार इसी मूल विश्वास से पैदा हुआ प्रतीत होता है। जब मैं एक विपरीत वस्तु से संबंध रखूँगा तो दूसरी विपरीत वस्तु हमें मिलेगी ही और वह मेरी भलाई के लिये ही होगी। हम पहले बीमार होते हैं फिर दवा लेते हैं। अगर हम पहले दवा लें तो बीमारी का कोई प्रश्न ही नहीं है। दु:ख को स्वीकार कीजिये इसके बाद आपको सुख की प्राप्ति तो स्वत: ही होगी लेकिन आज मनुष्य अपनी अज्ञानता के निम्नतम स्तर पर खड़ा होकर आनन्दपूर्ण और सुखपूर्ण जीवन जीने की बात सोचता है। इसे तो असफल होना ही है। इसमें ईश्वर क्या करे? संस्कार क्या करें? यह तो प्रकृति का सत्य है।

विद्यालयों में यह सब बताया जाना चाहिये। लेकिन आज विद्यालयों में केवल भौतिक जीवन का गुणगान किया जाता है। क्या तुम्हारे पिताजी के पास कार है? हाँ, बी.एम.डब्ल्यू.। बहुत अच्छा! और तुम्हारे पिताजी के पास? फोक्सवेगन। बहुत अच्छा! मैं समझता हूँ कि अगले साल हमारे पास भी एक बी.एम.डब्ल्यू. होगी। इस तरह बच्चा हीन भावना से ग्रस्त हो जाता है। हमारे विद्यालय इसी शिक्षा का प्रसार कर रहे हैं। हमारा समाज हमें यही सिखा रहा है। आप अपने पड़ोसी के घर जाइये और वहाँ आपको कोई अच्छा चूल्हा दिखाई देता है अब आपको भी वैसा ही चूल्हा चाहिये। उनके पास एक अच्छी कार है तो आपके पास भी ऐसी ही कार होनी चाहिये। हमें जॉन्स से पीछे नहीं रहना है। उसके पास चाँदी की बनी चायदानी है फिर अच्छी होते हुये भी हम मिट्टी की बनी चायदानी से क्यों काम चलायें? मेरे पास भी चाँदी की ही चायदानी होनी चाहिये। और जब हम कीमती वस्तुयें इकठ्ठी कर लेते हैं जैसे स्विटजरलैण्ड के लोग! तो फिर हम कहते हैं हमारा जीवन स्तर बहुत अच्छा है - सर्वोच्च है।

अभी हाल में जब मैं स्विटजरलैण्ड से होकर गुजर रहा था मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ जंक्शनों पर ताँबे की चादरें बिछी हुई हैं। यहाँ तो टिन से भी काम चलाया जा सकता था क्योंकि हर हाल में उसके ऊपर टाइल्स ही लगने हैं। लेकिन वे कहते हैं: नहीं, नहीं, चारी! दुनिया में हमारा जीवन स्तर सबसे ऊँचा है। किसी ने शायद मेरी अज्ञानता पर तरस खाकर मुझे बताया कि स्विटजरलैण्ड सर्वोच्च जीवन स्तर वाला देश है और शायद इसे दर्शाने के लिये वे अगले साल इन ताँबे के चादरों की जगह सोने की चादरों को बिछाने जा रहे हैं। आखिर सारी दुनिया की दौलत तो यहीं छिपी है। अग़र आप इसमें से कुछ टन ले भी लें और इसकी परत चढ़ा दें तो कौन आपको पकड़ने जा रहा है। जब वे इसे वापस लेना चाहें तो आपमें इतनी ताकत होनी चाहिये कि आप उन्हें इसे लौटा सकें।

इस तरह स्पष्ट रूप से यह दिखाई देता है कि आज हमारी समझदारी का मानक, हमारे मानवीय मूल्य पूरी तरह से नष्ट हो गये हैं। हमारा उसूल कहता है: जीवन को इतना सरल बना लो कि वह प्रकृति से मिल जुल जाये इसलिये जब हम पूछते हैं कि आप इतनी महँगी वस्तुयें क्यों चाहते हैं तो लोग विरोध करते हैं। हमारी पहली प्रवृति ही विरोध की है। हम कहते हैं: अरे! ये भारत से आये हैं जहाँ केवल गरीबी और दु:ख है इसलिये ये लोग यहाँ सरल और सादा जीवन जीने की शिक्षा देते हैं। वे क्या जानते हैं? चारी! मुझे तो आठ इन्च मोटे गद्दे पर सोने की आदत है। अगर पूछा जाये कि लेकिन आपकी पीठ में तो दर्द है, वे कहते हैं: नहीं, नहीं, यह गद्दे के कारण नहीं है। मेरी तीसरी ग्रैव कशेरुका खराब है। मैं विशेषज्ञ से इसकी जाँच करवा रहा हूँ। आपका विशेषज्ञ कौन है? नई नस्ल का एक चिकित्सक - किरोप्रैक्टर! एक बार मुझे भी पीठ का दर्द हुआ तो डॉन सैबोरिन ने मुझसे कहा कि यहाँ वैन्कुवर में पाँचवीं ग्रैव कशेरुका का एक विशेषज्ञ है। अगर परेशानी चौथे या छठें कशेरुका में होती तो वह इसका इलाज नहीं कर सकता था लेकिन पाँचवीं कशेरुका का तो वह विशेषज्ञ है। मेरी समझ में तो ऐसी विशेषज्ञता बेतुकेपन की चरमसीमा है।

यह तो उसी तरह है जैसे कोई परमाणु वैज्ञानिक केवल शीशे के परमाणु पर कार्य करने की क्षमता रखता हो तो कोई रजत के परमाणुओं पर और कोई लोहे के परमाणुओं पर। अरे! वह तो एफ.इ. का विशेषज्ञ है। यह एफ.इ. क्या है? आप एफ.इ. नहीं जानते। अरे.....

फेरम। फेरम का मतलब? फेरम का मतलब वही लोहा। और आप? मैं तो सी.यू. विशेषज्ञ हूँ। यह क्या होता है? अरे..... ताँबा। क्या यही ज्ञान है? यही विज्ञान है? हास्यास्पद, मूर्खतापूर्ण और बर्बरता की सीमा तक टुकड़े-टुकड़े में खण्डित! आज कोई भी विशेषज्ञ अपनी विशेषज्ञता के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। इसीलिये आज अगर आपको किसी चिकित्सा की जरूरत है और आप किसी चिकित्सक के पास जाते हैं तो वह आपको छः दूसरे चिकित्सकों के पास भेज देगा। क्योंकि उसे केवल आमाशय की या वह भी नहीं बल्कि आमाशय के केवल एक हिस्से की जानकारी है बाकी हिस्से के लिये वह आपको दूसरे लोगों के पास भेज देगा। यह सब मैं हँसने के लिये नहीं कह रहा हूँ। भारत जैसे देश में जहाँ हमें चिकित्सा के लिये पैसा खर्च करना पड़ता है यह बहुत खर्चीला है। अगर मेरे सिर में दर्द है तो वे मुझे छाती के एक्स-रे के लिये भेज देते हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर इसकी क्या जरूरत है? वह कहता है: यह देखने के लिये कि कहीं और कोई बात तो नहीं है? उनके लिये यह काफी नहीं है कि मैं जीवित हूँ और स्वस्थ हूँ। मैं छाती के एक्स-रे के लिये चला जाता हूँ। फिर वे मुझसे कहते हैं: चारी! जब आप यहाँ पर हैं ही तो क्यों न हम पेट का भी एक्स-रे ले ही लें। यह पता चल जायेगा कि अँतड़ियाँ ठीक से काम कर रही हैं या नहीं? यह उस समाज के लिये तो ठीक है जहाँ आपको इसके लिये अलग से कोई पैसा खर्च नहीं करना पड़ता। जहाँ बीमा कंपनियों ने अपने ऊपर हर चीज का दायित्व ले रखा है। लेकिन जरा सोचिये! उन गरीब लोगों का क्या होगा जिनके पास अपने बालों की जाँच करवाने तक के लिये पैसा नहीं है?

वस्तुतः यह विशेषज्ञता मानव जाति के लिये अभिशाप है फिर भी हमें सिखाया जाता है कि विशेषज्ञता प्राप्त करना अच्छा है। इसी परम्परा का पालन करते हुये आपने अपने प्रेम को भी खण्डित कर रखा है: ड्राइंग रुम का प्रेम, शयन कक्ष का प्रेम, बाहर बगीचे का प्रेम, होटल का प्रेम! वस्तुतः हमें यह पता ही नहीं कि प्रेम होता क्या है? हमारी हालत तो यह है कि जो लड़की हमारे लिये होटल के कमरे में प्रेम करने के लिये ठीक है वह हमारे घर में प्रेम के लिये ठीक नहीं है क्योंकि वह यह नहीं जानती कि प्रतिक्रिया कैसे की जाती है। यही विशेषज्ञता है। निरर्थक! बकवास! जो संपूर्ण है, जो हमेशा संपूर्ण ही रहता है उसे टुकड़ों में बाँटा जाता है। भारत में भी हमें यह मंदिर पूजा में दिखाई देता है जहाँ नारियल को प्रसाद के लिये लिया जाता है।

इसे ईश्वर को चढ़ाया जाता है, तोड़ा जाता है और इसके दोनो हिस्सों को खोल कर रखा जाता हैं जो यह बताता है कि वास्तव में कुछ भी नहीं है।

जब भी आप किसी वस्तु के दो टुकड़े करते हैं तो उसमें कुछ भी नहीं रह जाता। इसी तरह जब आप किसी का दिल तोड़ देते हैं तो इसमें आधा-आधा दिल नहीं मिलता। दिल ही नहीं बचता। इसको खूबसूरती से और स्पष्टता के साथ समझना चाहिये। आप पत्थर के भले ही दो टुकड़े कर लें लेकिन दिल के दो टुकड़े नहीं कर सकते। यह तो या तो पूरा होगा या नहीं होगा। इसीलिये आपको या तो ऐसे लोग मिलते हैं जिनके पास हृदय होता है या फिर ऐसे लोग मिलते हैं जिनके पास हृदय ही नहीं होता। उनमें शारीरिक हृदय भले ही हो जो पम्प की तरह धड़क रहा हो। इससे अधिक यह कुछ नहीं होता। अब हमें यह सब कौन सिखायेगा? हम इसे सीखने कहाँ जायें? किससे सीखें? और अपने जीवन में इसे कैसे लागू करें? चूँकि ऐसा कुछ भी सीखने का मुझे क्या लाभ हो सकता है जिसे मैं अपने जीवन में लागू ही न कर पाऊँ?

शिक्षा की यह एक और बड़ी त्रासदी है कि हमें इसमें ऐसी बहुत सी चीजें सिखाई जाती हैं जिनका हमें कभी उपयोग ही नहीं करना होता। जब पहली बार मैं इन जेबी कम्प्यूटरों - कैलकुलेटरों की ओर आकर्षित हुआ, मैंने भारत में इनका निर्माण करने वाली एक विशिष्ट कम्पनी की पुस्तिका पढ़ी। फिर मैंने इनमें जो सबसे जटिल था उसे खरीदने की भूल की। इसमें मैं हर प्रकार की गणना कर सकता था - समाकलन गणित से लेकर विद्युत तरंगों तक, यांत्रिक और रासायनिक पदार्थों की गणना भी इसमें की जा सकती थी। लेकिन मैं इसका प्रयोग केवल ३० और ३० से गुणा करने पर ९०० होता है - इसी बात की पुष्टि करने के लिये कर पाया। क्योंकि मुझे इस बात की जानकारी ही नहीं थी कि बाकी गणनाओं को कैसे किया जाता है? फिर मुझे इस कैलकुलेटर की जरूरत क्या थी? मेरा काम तो मुफ्त में मिलने वाले इन कार्ड कैलकुलेटरों से ही चल सकता था जिनमें चारो आवश्यक कार्य: जोड़, घटाव, गुणा और भाग हो ही जाते हैं। लेकिन मैं तो यह सिद्ध कर देना चाहता था कि मैं अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति हूँ और साथ ही यह भी कि मैंने बाजार में उपलब्ध सबसे महँगा कैलकुलेटर खरीदा है। यही काम हम सब करते हैं। सबसे महँगी कार खरीदते हैं - समाज को केवल यह जताने के लिये कि हम महान हैं।

इसीलिये सहजमार्ग में हम कहते तो जरूर हैं: जीवन को इतना सरल बना लो कि वह प्रकृति से बिल्कुल मिल जुल जाये। लेकिन इसका अर्थ नहीं समझते। इसका सीधा अर्थ हम यह लगाते हैं कि शौचालयों का निर्माण नहीं होना चाहिये बल्कि शौच के लिये हमें खेतों में जाना चाहिये - गर्म पानी की जगह हमें ठंढे पानी से नहाना चाहिये - ऐसा नहीं है। सादगी आपके वातावरण के अनुरूप होनी चाहिये। यह कोई बहुत पुरानी बात नहीं है कि हमारे पूर्वजों के घर में पानी गर्म करने के साधन नहीं होते थे, कारें नहीं होती थीं। कहीं जाने के लिये उन्हें बैलगाड़ियों और घोड़ागाड़ियों का सहारा लेना होता था। गाँवों में लोग आज भी यही करते हैं।

आखिर आप सभ्यता को जीवन की जटिलता के रूप में क्यों देखते हैं? सभ्यता का अर्थ तो सभ्य होना। स्वयं के प्रति सभ्य होइये, स्वयं का आदर करना सीखिये, स्वयं को समझिये, स्वयं के प्रति ईमानदार होइये और अपने पास पड़ोस के लोगों को भी वही उदारता और औपचारिकता प्रदान कीजिये। 'सभ्य व्यवहार' - जब आप किसी कुत्ते से मिलें तो कुत्ते की ही तरह न भौंकें। प्रेम से पूछें - तुम्हें क्या चाहिये? मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ? यह सभ्यता है।

किसी देश की सभ्यता उस देश की कारों में या वहाँ के परमाणु संयंत्रों में नहीं दिखती। ये विनाशकारी हैं। यह सत्य है कि आज भी कैंसर की अपेक्षा कार दुर्घटना में ज्यादा लोग मरते हैं। लेकिन यह बताने का कोई फायदा नहीं है। वे कहेंगे: भारत का फकीर हमें इसके अलावा और क्या सिखा सकता है? उसके पास कार जो नहीं है। उसके पास तो घर भी नहीं है। यह अपनी अँगुलियों से खाता है। अरे! इसको तो यह भी नहीं पता कि काँटा किस हाँथ से पकड़ा जाता है और यह यहाँ आकर हमें संस्कृति और सभ्यता सिखाने का दुस्साहस कर रहा है? और बेशक! इस संस्कृति की अंतिम वस्तु है यहाँ शौचालय में प्रयुक्त होने वाला कागज! जब हम सुनते हैं कि रूस में आजकल शौचालय में प्रयुक्त होने वाले कागज की बहुत कमी है तो हम अपनी हँसी नहीं छिपा पाते। भारत में इसका कोई महत्व नहीं है। हमें तो पता भी नहीं कि शौचालय में भी कागज का प्रयोग होता है। यह ऐसी वस्तु है जिसके बिना आप बड़े आराम से और बड़े ही स्वास्थ्यकर ढंग से अपना काम चला सकते हैं।

वस्तुत: यह संस्कृति, सांस्कृतिक मूल्यों और सांस्कृतिक जरूरतों का विकृत रूप है। इसीलिये जब हमें यह सिखाया जाता है कि सरल बनो -

अपनी वेशभूषा में, अपने व्यवहार में, अपनी शिक्षा में, अपनी अभिव्यक्ति में तो यह हमें अपने स्वभाव के विपरीत लगता है क्योंकि सदियों से हम गलत शिक्षा प्राप्त करते रहे हैं।

अब मैं इसे नहीं मानता कि सदियों की इस गलती को ठीक करने में हमें भी सदियाँ लगानी होंगी। किसी भी गलती को एक क्षण में सुधारा जा सकता है। गलत दिशा में हम चाहे सैकड़ों मील चल चुके हों लेकिन सही दिशा में चलने के लिये हमें केवल अपने कार की दिशा मोड़ देनी होती है। हम चाहे १० रात न सोये हों लेकिन एक रात की नींद भी काफी होती है। हमने चाहे २३ दिन तक उपवास किया हो लेकिन एक बार खाना खा लेने से हमारा पेट भर जाता है और हमारी भूख मिट जाती है। प्रकृति समय के छोटे अंतराल में भी हमारी गलतियों को सुधार कर हमें योग्य बना देने में अपनी हृदय की विशालता और उदारता का परिचय देती है चाहे यह गलती हम अपने अज्ञान और अंधविश्वास के कारण सदियों से करते आ रहे हों। फिर भी हम प्रकृति की इस विपुल उदारता का अपने प्रति उसके प्रेम का उपयोग नहीं करते।

शिक्षा का मतलब है कि वह हमें इन चीजों के बारे में शिक्षित करे। हमारे पास योग्यता तो है जिससे हम चाहें तो अपनी गलतियों को क्षण भर में ठीक कर सकते हैं। लेकिन चर्च में अपने अपराध को स्वीकार करके नहीं क्योंकि यह हमारी प्रतिष्ठा को कम करता है, हमें कुछ ऐसा स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है जो हमारे लिये अप्रीतिकर है। इसकी जगह हम यह कहें कि प्रभु! मैं इसे अब दुबारा नहीं करूँगा तो यह वहीं समाप्त हो जाता है। सहजमार्ग में पश्चाताप का अर्थ है - भविष्य के लिये संकल्प कि अब मैं इस गलती को भविष्य में नहीं दुहराऊँगा। इससे अधिक यह कुछ भी नहीं है। पश्चाताप का मतलब यह नहीं है कि हम किसी के आगे जाकर घुटनों के बल बैठकर परमपिता परमात्मा और अपनी पवित्र आत्मा के नाम पर क्षमा याचना करें। आखिर वह हमें क्षमा करने वाला कैसे हो गया? ईश्वर है कहाँ जो हमें क्षमा कर दे? वह तो मेरे भीतर है इसलिये क्षमा तो मुझे ही करना है। अगर मैं खुद को क्षमा नहीं कर सकता तो और कोई तो मुझे क्षमा कर ही नहीं सकता। और मैं खुद को कैसे क्षमा कर सकता हूँ? केवल इतना कहकर कि आज यह अध्याय बंद हुआ। अब नया पृष्ठ है। अब मैं जीवन को नये सिरे से जीऊँगा। इसमें कोई अपराध नहीं होगा, पिछले अपराधों के लिये कोई पछतावा नहीं होगा। बिना दिशा

बदले उसी पुराने रास्ते पर निरन्तर चलते रहने और बार-बार वही काम करते रहने की अब कोई जरूरत नहीं होगी जब तक कि सारा काम ही न गड़बड़ा जाये और हम अपने को अधिकाधिक दोषी न समझने लगें।

लेकिन धर्म यह झूठ बोलना जारी रखता है कि ईश्वर आयेगा और आपका उद्धार करेगा क्योंकि ईश्वर बाहर है आपके अंदर नहीं। वह गिरजाघर में या मंदिर में है आपके भीतर नहीं। वह स्वर्ग में है धरती पर नहीं तो एक समय ऐसी अवस्था आ जायेगी जब हम चर्च में भी जाने के काबिल नहीं होंगे क्योंकि हमारा अपराध बोध सीमा से ज्यादा बढ़ चुका होगा। फिर हम चर्च की निन्दा करना शुरु कर देंगे और कहेंगे: यह चर्च बेकार है। इससे किसी को कोई फायदा नहीं होता। इस प्रकार हम अधार्मिक और नास्तिक बन जाते हैं। इस प्रकार आप गौर करें तो पायेंगे कि धर्म एक दिन आपको अपने से दूर हटा देता है।

जबकि इसके विपरीत हमें चाहिये कि हम लोगों को अपने नजदीक ला सकें और कहें कि मेरे भाई या मेरी बहन! जो कुछ भी तुमने किया उसकी चिन्ता मत करो। यह तो अतीत है। इसे अब बदला नहीं जा सकता। यह बीत चुका है। इसे हमेशा के लिये भूल जाओ। क्या तुम आज से अपने अस्तित्व का नया पृष्ठ खोलने के लिये तैयार हो? अगर वह कहता है: हाँ तो फिर काम बहुत आसान हो जाता है। नया जीवन शुरु करने की आपकी यह चाहत किसी कारण के वशीभूत होकर अतीत में आपके द्वारा किये गये अपराध की भावना से आपको मुक्त कर देती है। मेरे मत में तो यह पहली और सबसे बड़ी मुक्ति है कि हम अपने को दोषी समझने की भावना से मुक्त हो जाते हैं। लेकिन आज यह शिक्षा हमें उपलब्ध नहीं है। हमें हमेशा यही उपदेश दिया जाता है: शाश्वत नरक और गंधकीय धुँआ। यह सब बकवास है। अगर ईश्वर मेरा उद्धार ही नहीं कर सकता तो ऐसा ईश्वर मेरे किस काम का? अगर वह हमारे बाहर है तो निश्चय ही उसमें हमारा उद्धार करने की क्षमता नहीं होगी। यह तो पुस्तकीय ज्ञान के समान है। इस ज्ञान का हमारे लिये क्या महत्व है? जब तक यह ज्ञान हमारे भीतर नहीं है इस ज्ञान का हमारे लिये क्या फायदा? दूसरा व्यक्ति हवा में श्वॉस ले रहा है - इससे मेरा क्या फायदा? मुझे भी श्वॉस लेने में समर्थ होना चाहिये।

इस तरह हम पाते हैं कि आध्यात्मिक शिक्षा का पूरा जोर इस बात पर है कि यह आपके भीतर है। बाहर का ईश्वर चाहे जितना

शक्तिशाली हो हमारे किसी काम का नहीं है लेकिन दूसरी ओर हमारे भीतर उसकी अणु मात्र उपस्थिति भी हमारे लिये सब कुछ है क्योंकि उसकी सूक्ष्म मौजूदगी भी दिव्य ब्रह्मण्डीय मौजूदगी से न तो कम है न अधिक। यह वह स्वयं है। इस प्रकार आध्यात्मिकता हमें यही सिखाती है कि कोई ईश्वर नहीं है, उसके कोई नाम नहीं हैं, उसकी कोई मौजूदगी नहीं है। वह तो मेरे भीतर है। हमें इस तथ्य को पहचानना होगा। हमें उसके ऊपर लिपटे आवरणों को, स्थूलताओं को हटाना होगा ठीक वैसे ही जैसे प्रकाश पाने के लिये लैम्प के ऊपर लगी कालिमा को हटाना होता है। फिर हम पाते हैं कि वह वहाँ मौजूद है। हम पूरी तरह से परिवर्तित हो जाते हैं। हम सामान्य रूप में अब एक व्यक्ति नहीं रह जाते बल्कि दिव्यता का पात्र बन जाते हैं जिससे होकर हर दिशा में दिव्यता का बहाव होने लगता है। अब हम पूरी तरह एक दिव्य व्यक्तित्व बन जाते हैं।

यही वे चीजें हैं जो हमें सीखना है। ये बहुत महत्वपूर्ण पाठ हैं जिन्हें केवल करके ही सीखा जा सकता है। किसी व्यक्ति के केवल यह बता भर देने से कि ईश्वर आपके अंदर है जब तक हम उसे अपने भीतर बैठा नहीं लेते हमारे लिये इसका कोई फायदा नहीं। इस बात का कोई अर्थ नहीं कि हम अपने आप को धोखा दें और कहें कि हाँ, मैं उनकी उपस्थिति महसूस करता हूँ। इसका कोई अर्थ नहीं कि आप उसकी उपस्थिति को अपने बाहर महसूस करें। मैं स्वयं से बाहर हवा की उपस्थिति को आसानी से महसूस कर सकता हूँ लेकिन क्या मैं अपने फेफड़ों में भी उस हवा को महसूस कर पा रहा हूँ? अगर नहीं तो मैं निर्जीव हूँ। बाहर के भोजन का या बाहर के हवा का, पानी का मेरे लिये क्या महत्व हो सकता है? उसी प्रकार मेरे मत में आखिरी व्यर्थ वस्तु ईश्वर है अगर वह मेरे बाहर है। मेरे भीतर वह मेरा मित्र है, मेरा स्व है और अंततः वह मैं हूँ।

मुझे आशा है कि आप आध्यात्मिकता के इन पहलुओं पर गौर करेंगे और पाश्चात्य संस्कृति की तमाम वाहियात बातों को कि आप बुद्धिमान हैं, आप वैज्ञानिक हैं और बुद्धिमता की जरूरत है आप भूल जायेंगे। यह मानव जाति को इसके शुरुआती दौर में ही नष्ट कर रहा है। ईश्वर के लिये आप खुद को किसी उपाधि से मत पुकारिये। चूँकि कुछ होते ही आप कुछ और नहीं हो सकते। वह जो सब कुछ है उसे कुछ नहीं होना चाहिये। समझने में यह थोडा कठिन जरूर है लेकिन हिन्दू दर्शन जो अत्यन्त विनम्र दर्शन है, कहता है: जिसके पास कुछ नहीं है उसी

के पास सब कुछ होता है और अगर किसी के पास कुछ है तो फिर उसके पास कुछ ही होता है।

धन्यवाद !

।।।

ओज़राँ, फ्राँस

जुलाई ११, १९९१

जुलाई ११, १९९१

मैं आपको अपने व्यक्तिगत अनुभवों से कुछ बताने का प्रयास करूँगा। मैंने पहले दिन भी आपको यह बताया था कि में कोई विद्वान व्यक्ति नहीं हूँ इसलिये आपको कोई विद्वतापूर्ण भाषण नहीं दे सकता लेकिन अपने जीवन में मैंने पाया है कि अनुभव सबसे बड़ा शिक्षक है। मैं उस आध्यात्मिक अनुभव के बारे में नहीं बता रहा हूँ जिनका वर्णन मैंने कल अंतरतम के संस्कारों से मुक्ति पाने के रूप में किया था - उनका कोई शैक्षिक महत्व नहीं है। जीवन के अनुभव - खुशियाँ, तकलीफें - हमें बहुत कुछ सिखाते हैं। ज्ञान की खोज में भी जब हम आगे बढ़ते हैं हमें कई सत्यों का पता चलता है। इन सत्यों में से पहला सत्य तो यह है कि जैसे-जैसे हम विकसित होते जाते हैं हमारे लिये उस चीज को पाना कठिन से कठिनतर होता जाता है जिसे हम पाना चाहते हैं - चाहे यह ज्ञान हो या व्यवहार में पथ-प्रदर्शन - इसे हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

निम्नतम स्तर पर तो हम किसी पुस्तक से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के तौर पर बच्चों की किताबें! आप कोई भी किताब ले लें आपको ए, बी, सी, डी मिल जायेगी। यह केवल आपके स्वाद, किताब के रंग, उसकी सुगंध, मेरा मतलब कागज की सुगंध से है - पर निर्भर करता है कि आप कौन सी किताब खरीदते हैं। इसमें केवल आकर्षक बाइंडिंग और उसकी आकर्षक प्रस्तुति ही मायने रखती है जो बच्चे का ध्यान अपनी ओर खींच ले। इसलिये जहाँ तक वर्णमाला की बात है इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि आपने कौन सी पुस्तक खरीदी? 'ए' चाहे एप्पल के लिये हो या ऐस के लिये - क्या फर्क पड़ता है? यह दोनो के लिये है। आपको वह प्रसिद्ध गाना याद होगा: डू, रि, मि, फा: डू का मतलब हिरण, मि मतलब मैं खुद, फा का मतलब एक लम्बी दूरी, जिसे तय करना है। लेकिन इसका मतलब सच में यही नहीं होता। इसका प्रयोग तो हम बच्चों को सिखाने के लिये करते हैं।

आध्यात्मिकता में यह सत्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। निम्नतम स्तर पर आप जो शिक्षा चाहते हें वह तो आपको कहीं भी मिल सकती है।

शेक्शपियर के इस कथन: नालों में किताबें, पत्थरों में प्रवचन और हर वस्तु में ज्ञान - का अर्थ समझने में मुझे थोडी कठिनाई है। आखिर नालों में कौन सी किताबें? पत्थरों में कैसा प्रवचन? - जो मूलभूत हैं और इतने सामान्य हैं कि इसे आप कहीं भी प्राप्त कर सकते हैं फिर भी इसमें ज्ञान है और इस ज्ञान को केवल बुद्धिमान व्यक्ति ही ग्रहण कर सकता है। जो चीज दुर्लभ और विवेकपूर्ण है उसे केवल बुद्धिमान लोग ही प्राप्त कर सकते हैं। जब भी आप कोई पुस्तक पढ़ते हैं तो आपको उस पुस्तक में कोई एक पैरा या एक वाक्य ही ऐसा मिलता है जो आपके महत्व का हो। इसलिये आप उसको रेखांकित कर लेते हैं। यह मक्के के खेत की तरह है - जब आप बोते हैं तो हेक्टेयर में और फसल काटते हैं तो बोरों में भरकर कार में उठा लाते हैं। इसलिये हमें जानना यह है कि हम क्या, कहाँ और कैसे पायें? फिर पाने के बाद इसका क्या करें? इस तरह शिक्षा के कई स्तर होते हैं।

जब हम खोज रहे हैं हमें मार्गदर्शन नहीं मिल रहा है। फिर भी हमारे अंदर कुछ है जो हमें सही दिशा दिखा रहा है। जब हम जीवन की शुरुआत करते हैं तो हमारे पथ-प्रदर्शक नहीं होते। अब अगर मुझे ऐसे शिक्षक की जरूरत पड़ रही है जो मुझे यह बताये कि शिक्षक कहाँ मिलेगा तो यह बकवास ही है। शिक्षक तक पहुँचाने के लिये कोई शिक्षक नहीं हो सकता। प्रेमी तक पहुँचाने वाला प्रेमी नहीं हो सकता। अगर वह प्रेमी है तो वही काफी है। और अगर वह प्रेमी नहीं है तो मुझे वह यह नहीं दिखायेगा कि मुझे दूसरा प्रेमी कहाँ मिलेगा। अगर इस पर अच्छी तरह से विचार करें तो पायेंगे कि हमेशा पहला वार ही निशाने पर लगता है। अब चूँकि यह दुर्लभ चीज है इसलिये आपको उत्कृष्ट निशानेबाज होना चाहिये। आपको निशाना लगाने आना चाहिये। आपको जानना चाहिये कि वास्तव में लक्ष्य कहाँ है और आपको निशाना कहाँ लगाना है। इस तरह 'खोजने और पाने' का पूरा काम काफ़ी कठिन है। और अगर हम अपना पूरा जीवन किताबों को पढ़ने में, किताबों से ज्ञान प्राप्त करने में, किताबों से मार्गदर्शन प्राप्त करने में व्यतीत कर देंगे तो हम बुद्धिजीवी और दार्शनिक भले ही हो जायें आध्यात्मिक व्यक्ति तो नहीं हो सकते। यह मेरा निश्चित मत है कि आप किताबों को पढ़कर कभी भी आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं हो सकते। लेकिन विश्व के सभी भागों में प्रचलित पद्धतियों में यह दोष है कि वे हमें किताबों को पढ़ने की ही शिक्षा देती हैं। वे कहती हैं: अगर आपको किसी शब्द का अर्थ पता नहीं है तो शब्दकोष देखिये।

मैं आपको अपना एक व्यक्तिगत अनुभव बताता हूँ। एक बार किसी ने मुझे उपहार में इलेक्ट्रानिक शब्दकोष दिया। जो शब्द मैं उसमें ढूँढ़ना चाहता था वह शब्द मुझे उसमें नहीं मिला। अब यह भाषा सीखने वाले नये व्यक्ति के लिये तो ठीक है जिसे ६०० शब्दों की जानकारी है और कोई नया शब्द ढूँढ़ना है लेकिन अगर किसी विकसित व्यक्ति को जो अँग्रेजी में पी.एच.डी. हो इलेक्ट्रानिक शब्दकोष दिया जाये तो इसका अधिकांश हिस्सा उसके लिये बेकार ही होगा क्योंकि इसे तो वह पहले से ही जानता है। यह भी सम्भव है कि वह जिन शब्दों को जानना चाहता है वे उसमें न हों। इसलिये आपके विकसित होने के साथ-साथ उस चीज को प्राप्त करना कठिन होता जाता है जिसे आप पाना चाहते हैं। यह कठिनाई कम नहीं होती।

रिसर्च करने वाले लोगों को यह बात आसानी से समझ में आयेगी। कुछ लोग समझते हैं कि रिसर्च में आप जितना डूबते जाते हैं यह आसान होती जाती है लेकिन इसके विपरीत यह उसमें डूबने के साथ और कठिन होता जाता है। मौलिक अंक, जिनमें आप भाग नहीं दे सकते, से संबंधित एक प्रसंग देखकर मैं अपनी हँसी नहीं रोक पाया। मैंने कहीं पढ़ा कि तीसरी पीढ़ी के एक कम्प्यूटर ने नये मौलिक अंक का पता लगाने में साढ़े तीन साल का समय लिया। यह सम्भव है कि चौथी पीढ़ी के कम्प्यूटर को अगले मौलिक अंक का पता लगाने में ४० साल का समय लगे क्योंकि अगले मौलिक अंक में सब कुछ होगा और वह विभाज्य होगी। अब आपको ऐसी चीज खोजनी है जो आजतक मौजूद किसी भी अंक से विभाजित न हो। यह कठिनतर होता जा रहा है। अगर आप इस दृष्टि से विचार करें तो क्या आप अंतिम मौलिक अंक कभी ढूँढ़ पायेंगे? पहली बात तो यह है कि यह होता ही नहीं। अनंत श्रृंखला में कोई अंक अंतिम कैसे हो सकता है? मुझे लगता है कि इस प्रकार के रिसर्च समय, धन और पैसे की बर्बादी हैं। अगला मौलिक अंक जानकर हमें क्या फायदा होगा? यह किसे लाभ पहुँचायेगा? दरअसल यह कम्प्यूटर का गलत इस्तेमाल है, गणित का गलत इस्तेमाल है और समय की बर्बादी तो है ही - धन की बर्बादी है - करदाता के धन की। रिसर्च का उद्देश्य मानवीय सद्भाव और मानवीय कल्याण की बढ़ोत्तरी होना चाहिये। आज तो कई रिसर्च ऐसे हो रहे हैं जिनसे मानव जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। फिर भी विडंबना यह है कि हम इस पर गर्व करते हैं।

टी.जी.वी. से यात्रा करते समय एटॉमिक रिएक्टरों को देखकर जिनमें एटम को एक वृत्त में घुमाने की सी.इ.आर.एन. सुविधा है, हम बहुत खुश होते हैं। देखो! हमारे पास क्या है! चारी! क्या तुम्हारे पास भारत में ऐसी चीज है? बिल्कुल नहीं। मुझे इस बात का दु:ख नहीं बल्कि गर्व है कि हमारे पास भारत में ऐसी चीजें नहीं हैं जो अपने मौलिक रूप में विनाशकारी हैं। क्या अच्छी शक्तियों का अपने पास होना अच्छा है? सहजमार्ग कहता है: नहीं। हमें यह सोचकर खुश नहीं होना चाहिये कि हम अच्छे रिएक्टर लगायेंगे जिन्हें फेंकना नहीं होगा। दरअसल अच्छे और बुरे रिएक्टर जैसी कोई चीज नहीं होती। अच्छी और बुरी राइफल जैसी कोई चीज नहीं होती। दोनो ही मारने के प्रयोग में आयेंगी। कोई अधिक प्रभावी ढंग से और शीघ्रता के साथ मारने का काम करेगी और कोई कम - बस! इतनी ही बात है। इसलिये शक्ति के विचार को हम सहजमार्ग में असंगत मानते हैं। सहजमार्ग शक्ति की बात नहीं करता। यहाँ तो हम शक्तिहीन शक्ति - बलहीन बल की बात करते हैं। सहजमार्ग के दर्शन पर गौर करें तो सारा दर्शन इसी प्रकार की परस्पर विरोधी बातों से भरा हुआ दिखता है।

अब इसे कैसे समझा जाये कि बलहीन बल क्या है? अगर आप सांसारिक जीवन के अर्थ में कुछ समझना चाहते हैं तो प्रेमहीन प्रेम क्या है? आज इन बातों को समझना बहुत जरूरी है - कम से कम हमारे युवा साथियों को तो यह समझना ही चाहिये। ज्येष्ठ पीढ़ी तो बिगड़ चुकी है। प्रेमहीन प्रेम और कुछ नहीं यह प्रेम की पूर्णता है - प्रेम की उदात्तता है। यह प्रेम की वह अवस्था है जहाँ प्रेम की समान्य समझ समाप्त हो जाती है - भावों से पार केवल प्रेम की अंतिम वास्तविकता ही बचती है। इसे समझना कठिन नहीं है लेकिन लोग पूछते हैं: चारी! प्रेमहीन प्रेम वास्तव में प्रेम कैसे हो सकता है? हाँ, यह होता है और केवल यही वास्तविक प्रेम होता है। अगर हम इस पर भौतिक - सांसारिक संदर्भ में विचार करें तो देखते हैं कि इसका अर्थ बदल जाता है प्रेम का L O V E वासना के L U S T में बदल जाता है। अब वासना को क्या आप प्रेम कह सकते हैं?

अगर हम समझना चाहें तो प्रेमहीन प्रेम के इस विचार को आसानी से समझ सकते हैं। अब आप कहेंगे: नहीं, नहीं, यह तो ६५ साल के बूढ़ों और दार्शनिकों के लिये है। युवा लोगों का क्या होगा? प्रेम युवा और वृद्ध के लिये अलग-अलग नहीं होता। यह दोनो के लिये एक

समान ही होता है। खाना, वायु, जीवन - सब दोनो के लिये एक समान होता है। युवा और वृद्ध जैसी कोई चीज होती ही नहीं। केवन शरीर ही युवा या वृद्ध होता है। जीवन तो शाश्वत होता है - इसकी कोई आयु नहीं होती। फिर मूलभूत मूल्य, मूलभूत विविधतायें, मूलभूत सत्य आयु के हिसाब से कैसे बदल सकते हैं? अगर आप किसी ८ साल के बच्चे का सामान लूट लें तो क्या आप अदालत में यह कहकर बरी हो सकते हैं कि आपने केवल ८ साल के लड़के को लूटा है इसलिये यह जुर्म नहीं है। मूलभूत मूल्य सबके लिये एक तरह के होते हैं। मूलभूत मूल्यों के लिये आयु और लिंग की कोई प्रासंगिकता नहीं होती। इसके लिये जाति, संस्कृति या परम्परा भी प्रासंगिक नहीं होते। विभिन्न धर्मों में भिन्न नैतिक मान्यतायें नहीं हो सकतीं। नैतिक मान्यताओं में भिन्नता केवल यही बताती है कि ये धर्म न होकर केवल संहितायें हैं।

हमें यह राब हृदय से समझना होगा। अगर हम इसे शरीर से समझने की कोशिश करें तो शरीर कहेगा: सब बकवास की बातें हैं। प्रेम तो यही है। वह तो तब होगा जब हमारी आयु ७० की हो जायेगी और जब हम शारीरिक प्रेम के काबिल नहीं रह जायेंगे। लेकिन न तो यह निषेध है, न त्याग है और न ही समझ। यह तो उसी तरह है कि कोई लुटेरा कहे कि मुझमें अब लूटने की सामर्थ्य नहीं है इसलिये मैंने अब लूटना छोड़ दिया है। त्याग तो उसका किया जाता है जो हमारे पास होता है। भिखारी यह नहीं कह सकता कि उसने पैसे का त्याग कर दिया है। वह तो भिखारी है। सोचिये! जो चीज आपके पास है ही नहीं उसका आप त्याग कैसे कर सकते हैं? अब इसका मतलब यह नहीं है कि आप अपनी कार में बैठकर उस चीज को ढूँढ़ने चले जायें जिसे आपने कभी किया न हो और उसे करने लगें ताकि जब भी चाहें आप उनका त्याग कर सकें। इस विचार को ठीक से समझ लेना जरूरी है। जब हम यह कहते हैं कि मैंने झूठ बोलना बंद कर दिया है तो इसका मतलब यह होता है कि मैं इसके पहले झूठ बोलता था। अब इसका मतलब यह नहीं है कि अगर हम झूठ नहीं बोलते तो पहले हम झूठ बोलना शुरु करें फिर झूठ बोलना बंद कर दें। जिसने सत्य के सिवा कभी कुछ कहा ही नहीं उसके लिये तो झूठ का विचार ही भ्रामक है। वह तो जानता ही नहीं कि झूठ क्या होता है?

हमारी शुरुआत अबोधता के साथ होती है। इसीलिये यह हमारे लिये स्वाभाविक है। इसे हर भाषा में बच्चों की अबोधता ही कहते हैं।

बचपना नहीं बच्चे जैसा। अब बच्चों की अबोधता ही क्यों होनी चाहिये? क्योंकि बच्चों के लिये कोई विपरीत चीज नहीं होती। विपरीत चीज हो तो प्रतिक्रिया तो होगी ही। कोई बच्चा तब तक झूठ बोलना नहीं जानता जब तक हम उसे झूठ बोलना सिखाते नहीं। कोई बच्चा तब तक अपराध बोध से ग्रस्त नहीं होता जब तक हम उसे उसके अपराध का बोध नहीं कराते। वह अंडा फेंक देता है, इसकी जर्दी कालीन पर फैल जाती है। हम चिल्लाते हैं: यह तुमने क्या किया? बच्चा अपराध बोध से ग्रस्त हो जाता है। लेकिन अगर कोई बड़ा आदमी एक गिलास व्हिस्की कालीन पर गिरा देता है तो आप उसे दोष नहीं दे सकते। आप कहते हैं: अरे! कोई बात नहीं। यह पाखण्ड है। बच्चे के लिये आपका व्यवहार एक तरह का है, खुद के लिये दूसरे तरह का और मेहमानों के लिये तीसरे तरह का और जिससे आप घृणा करते हैं या जिससे आप प्रेम करते हैं उससे आपका व्यवहार अलग तरह का होता है। यह स्पष्ट रूप से आपके चरित्र का विघटन है। आज लोग भ्रमित हैं और मानसिक बिखराव की अवस्था में हैं तो इसलिये क्योंकि वे भिन्न लोगों से भिन्न परिस्थितियों में भिन्न प्रकार का व्यवहार करते रहे हैं और आज वे इस अवस्था में पहुँच गये हैं कि वे यह भी नहीं जान पा रहे हैं कि असल में वे कौन हैं? मानसिक बिखराव की इस अवस्था में हमें मनोचिकित्सक के पास भी जाना पड़ता है।

योग में हमारी कोशिश यही होती है कि हम संपूर्ण को वापस लायें। चरित्र को इकहरा बनायें। व्यक्ति ऐसा बने कि वह हर चीज के प्रति एक जैसी ही प्रतिक्रिया करे - दूरबीन जैसा। दूरबीन से चाहे कोई भी देखे उसे वह चीज एक सी ही दिखती है। दूबीन एक ही चीज को अलग-अलग रूपों में नहीं दिखा सकता। ऐसा नहीं है कि वह गरीब और काले लोगों को एक ही जीच अलग किस्म से दिखाये और अमीर और सफेद आदमी को उसी चीज को अलग किस्म से दिखाये। ऐसा सम्भव नहीं है। चाँद कोई भी देखे - वह एक सा ही दिखता है। इस तरह अगर आप गौर करें तो पायेंगे कि हम विघटित, विविध और बहुल चरित्र वाले लोगों को एक साथ लाकर ध्यान करवाते हैं और उन्हें एकता में लाने का प्रयत्न करते हैं। अब प्रश्न यह है कि ध्यान क्यों करें? क्योंकि एकता लाने का यही एक तरीका है। बाहरी जीवन में हमारे कई पक्ष हैं। हमारे कई रूप हैं। लेकिन अपने आंतरिक जीवन में मैं एक हूँ। उस एक पर ध्यान करके हम धीरे-धीरे फिर से एक व्यक्तित्व बनना सीखते हैं।

अब उस एक व्यक्तित्व की सच्चाई क्या है? इकहरी पहचान, इकहरा व्यक्तित्व, एक व्यक्ति बनने का महत्व क्या है? आज हमें 'मैं' की जगह 'हम' शब्द का प्रयोग करना पड़ता है चूँकि कई 'मैं' एक जगह इकठ्ठे हो गये हैं। मैं पत्नी के लिये कुछ हूँ, प्रेमी के लिये कुछ, पिता के लिये कुछ और माँ के लिये कुछ और। इसीलिये मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता हूँ। दरअसल हमारी सारी किंकर्तव्यविमूढ़ता व्यक्तिगत है। खो जाने की हमारी सारी अनुभूति व्यक्तिगत है। बच्चा अपने को इसलिये खोया हुआ अनुभव करता है चूँकि उसे पता नहीं होता कि वह कहाँ है लेकिन हम खुद को खोया हुआ इसलिये अनुभव करते हैं चूँकि हम कई जगहों पर, कई परिस्थितियों में, कई चीजों में, कई व्यक्तियों के साथ हैं और हमें ठीक से पता नहीं कि हम वास्तव में कहाँ हैं। इसीलिये हम खुद को खोया हुआ अनुभव करते हैं। इसीलिये यह जरूरी है कि हम एक हों - हमारे व्यक्तित्व का एकीकरण हो।

अब व्यक्तित्व के इस एकीकरण में दवा या इलाज हमारी कोई सहायता नहीं कर सकते, मंदिर और पूजा हमारी मदद नहीं कर सकते क्योंकि यह तो हमारे जीवन का खुद भी एक पक्ष है - हमारा धार्मिक पक्ष। फिलहाल हम वहाँ जाते हैं, घुटनों के बल बैठ कर प्रार्थना करते हैं और यह समझ कर वापस आ जाते हैं कि हमें क्षमा कर दिया गया है! अगर हम भारत में हैं तो प्रसाद चढ़ाकर उसे वापस ले आते हैं औ सोचते हैं कि सब ठीक हो गया। लेकिन मन में कुछ संदेह बना रहता है कि उस पूजास्थल पर जाने से वास्तव में मुझे कुछ मिला भी है या नहीं? अगर वास्तव में मुझे कुछ मिला है तो हम उस स्थान पर दुबारा नहीं जायेंगे। यह बात बिल्कुल सही है और इस विषय में कुछ कहने की जरूरत नहीं है कि हम बार-बार वहाँ क्यों जाते हैं? निश्चित रूप से इसलिये क्योंकि हमारी पहली यात्रा व्यर्थ थी। दूसरी यात्रा भी व्यर्थ थी और अंततः मरने पर हमें भी ताबूत में रखकर उसी चर्च में ले जाया जाता है जहाँ पैदा होने के बाद हमें नामकरण के लिये ले जाया गया था। फिर पुजारी होने का दावा करने वाले पर हमें भरोसा करना पड़ता है औ वह कुछ शब्दों को कहता है फिर हम दफन कर दिये जाते हैं। यहीं सीजर भी लेटा हुआ है।

हो सकता है कि हमने अपने जीवन की शुरुआत पूजास्थल से की हो लेकिन अगर मरने के समय भी हम वहीं हैं तो इसका मतलब तो यही है कि हमारा पूरा जीवन बेकार चला गया, मिथ्या हो गया। अब आप सोचिये! उस व्यक्ति ने कौन सा जीवन जिया जिसका जीवन वहीं

समाप्त हो गया जहाँ से उसने जीवन की शुरुआत की। इसका तो मतलब यही है कि उसने जीवन को जिया ही नहीं। वह मृत ही था। यही धर्म का पहला सत्य है। जीवनपर्यन्त इसीलिये उसने कुछ भी महसूस नहीं किया। उसके जीवन में कुछ भी आनन्द देने वाला या तकलीफ देने वाला नहीं था। वह एक रोबोट की तरह था जो प्राणी की आकृति में अपने खुद के संस्कारों द्वारा खिसकाया जाता रहा। खिलौनों के साथ क्या होता है? या तो उनमें चाभी भरी जाती है या फिर उन्हें बैटरी से चलाया जाता है। बच्चों को चमकदार आँखों वाला और आवाज करने वाला अगर कोई खिलौना दे दिया जाये तो वे डर जाते हैं। वे ऐसे खिलौने से खेलना पसंद नहीं करते। यह डर उनमें कहाँ से आता है? उनके संस्कारों से। इसीलिये हम सभी जीवित वास्तविकताओं के सजीव रूप हैं। शरीर की रचना तो प्रकृति ने की है लेकिन इसको चलाने वाली शक्ति क्या है - ये हमारे खुद के संस्कार हैं। इसी संस्कार की वजह से हममें यह अतिसुंदर लेकिन नकारात्मक विचार बना रहता है कि हम जीवित हैं। हम उससे ज्यादा कतई जीवित नहीं हैं जितना मृत्यु के समय रहते हैं। इसीलिये वेदों में कहा गया: उत्तिष्ठत! जाग्रत!! उठो! जागो!! अब अगर हम पहले से ही जगे होते तो हमें जगने के लिये क्यों कहा जाता? अब कोई जगे हुये आदमी से तो जाकर यह नहीं कहेगा कि जग जाओ।

आप दिव्य व्यक्तित्व से बहुत कम, प्रकृति के खिलौने के रूप में अपने खुद के संस्कारों से संचालित मनुष्य होकर भी जगे नहीं हैं। सत्य यही है कि हम अभी भी सोये हुये हैं। हमारी स्थिति नींद में चलने वालों की तरह है। हम बोल रहे हैं, बड़बड़ा रहे हैं, दरवाजा खोल रहे हैं, बंद कर रहे हैं लेकिन हमें पता नहीं कि क्या हो रहा है। सुबह अगर हमें बताया जाता है कि हम ऐसा कर रहे थे तो हमें सहसा विश्वास नहीं होता। हम कहते हैं: मैं ऐसा नहीं कर सकता।

इसलिये इस समझ से भले ही हमारे अहंकार को ठेस लगे हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि हम संस्कारों से खिसक रहे मृत व्यक्ति ही हैं। ये संस्कार ही हमें करने या न करने की दिशा दे रहे हैं। हमें इससे बाहर होने के लिये यौगिक प्रक्रिया अपनानी होती है। अब प्रश्न उठता है कि यह कहाँ मिलेगा? कहाँ से शुरु करें? पद्धतियाँ तो ढेर सारी हैं। मेरा मत है कि आप अपने अंतर को अपना मार्गदर्शन करने दीजिये। जैसा बाबूजी महाराज ने कहा कि अगर आप निष्ठापूर्वक प्रार्थना करते हैं कि आपको सच्चा गुरु मिले तो गुरु आपके दरवाजे पर

आकर दस्तक देता है। कोई भी व्यक्तिगत रूप से इसका परीक्षण कर सकता है।

मैंने १६ या १७ साल की उम्र में पुस्तकों को पढ़कर ध्यान का अभ्यास करना शुरु किया क्योंकि मैं तड़प तो नहीं कहूँगा - यह बहुत बड़ी बात हो जायेगी लेकिन मेरे अंदर स्वाभाविक रूप से अनुराग था। मैंने सभी प्रकार की चीजों का अभ्यास किया - हठयोग, प्राणायाम, आसन। मेरे परिवार में लोग मुझे प्रशंसा की दृष्टि से देखते थे चूँकि मेरे परिवार में अभी तक किसी ने यह सब नहीं किया था लेकिन मेरा यह सारा कार्य व्यर्थ था - बाँझ पेंड़ की तरह जिसमें कोई फल नहीं लगता। इसके पत्ते तो अद्‌भुत हो सकते हैं, यह छतरी जैसा हो सकता है - सुंदर तना, सुंदर जड़ें! लेकिन क्या इसमें कुछ पैदा भी होता है? अगर इसमें कोई फल नहीं लगता तो निश्चय ही यह बाँझ है। इसलिये मैं तो यही मानता हूँ कि जो भी प्रयास परिणाम नहीं देता वह समय की बर्बादी के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। मेरे सारे प्रयासों का परिणाम मुझे यह मिला कि मुझे मेरे मालिक मिले। शायद गुरु की खोज में मेरी लगन का यह परिणाम था अन्यथा बच्चों की तरह चक्र में मैं भी गोल-गोल चक्कर खाता रहता। चक्कर पर चक्कर, खूब तेज गति लेकिन सारे समय हम यहीं हैं।

हममें से अधिकांश लोग यही कर रहे हैं - ऐसे ही चल रहे हैं - एक ही समस्या पर बार-बार सोच रहे हैं इसीलिये जीवन के हम चाहे जिस पहलू को देखें हमें वही चीज दिखती है। जैसे हमें चाँद का हमेशा एक ही चेहरा दिखता है। यह हमारे चारो ओर घूम रहा है और हम अपने चारो ओर घूम रहे हैं। सब कुछ इसी तरह सौर मंडल में घूम रहा है। हमारे ब्रह्माण्ड में सब कुछ गतिमान है - आकाशगंगा भी गतिमान है फिर भी सारे समय हमें चाँद का वही चेहरा दिखाई देता है। चाँद पर इसी ओर खड़ा व्यक्ति हमें देख सकेगा दूसरी ओर खड़ा व्यक्ति कभी भी हमें नहीं देख सकता। वस्तुत: यह कितना हास्यास्पद है कि हम अपनी समस्याओं पर बार-बार उसी तरीके से विचार करते हैं। इसीलिये हम हमेशा वही चीज देखते हैं। हम सोचते हैं कि हम सोच रहे हैं लेकिन इससे हमें कोई परिणाम नहीं मिलता। हम चिन्ता तो करते हैं लेकिन हमें कोई परिणाम नहीं मिलता। हम ध्यान करते हैं लेकिन हमें इसका कोई परिणाम नहीं मिलता क्योंकि हम चक्कर काट रहे हैं। हम कोई सूर्य के उपग्रह तो नहीं हैं कि हमें उसके चक्कर काटना पड़े।

हमें सीधे चलना चाहिये। इससे कम से कम यह तो पता चलेगा कि हम लक्ष्य की ओर जा रहे हैं या इसके विपरीत।

लेकिन यह सीधा रास्ता मिले कैसे? कोई यह बताने वाला तो चाहिये कि यह रास्ता सीधा है। अक्सर मैं भारत में युवा लड़कों को बताया करता हूँ कि जब भी तुम यूरोप जाओगे तुम्हें बताया जायेगा कि बायीं ओर वह चर्च देखो तुम्हें वहाँ जाना है लेकिन अगर बायें हाइवे पर निकल पड़े तो तुम डिजों या मार्सेल्स पहुँच जाओगे लेकिन उस चर्च तक नहीं पहुँच पाओगे क्योंकि एक किलोमीटर इस चर्च तक जाने के लिये तुम्हें दायें-बायें करते हुये कार से १२ किलोमीटर का चक्कर लगाना पड़ेगा। यही आधुनिक तकनीक है - हाईटेक! यह हमें हमारे लक्ष्य से दूर करता गया है। यह उदाहरण मुझे यह स्पष्ट करने के लिये काफी है। मुझे नहीं पता कि यह आपको कितना पसंद आया। आप तो केवल यही कहेंगे: यह भारतीय मूर्ख है जो केवल बायें मुड़ना जानता है। इसे यह पता ही नहीं कि दाहिने मुड़कर भी बायें जाया जा सकता है। शुक्र है कि अब भी बायें मुड़कर मैं बायें जा सकता हूँ अन्यथा मेरा अंत भी परी लोक में एलिस की तरह होता और मैं वहाँ पहुँच जाता जहाँ मैं अंततः नहीं जाना चाहता। वहाँ मुझे केवल हास्यास्पद वस्तुयें मिलतीं - खाली प्याले और छोटी चुहिया! इन्हीं परिस्थितियों से बचाने के लिये हमें एक मार्गदर्शक की जरूरत होती है।

सरल समाजों में जहाँ सब कुछ सरल है - जीवन हो या लक्ष्य - मार्गदर्शक पाना आसान है क्योंकि वहाँ एक ही लक्ष्य है। लेकिन जटिल समाजों में बायें मुड़कर भी आप वापस लौट सकते हैं। यहाँ आपको कई दिशाओं में कई मोड़ों का सहारा लेना पड़ता है इसीलिये वहाँ मार्गदर्शक एक अनिवार्यता है। भारत में सड़कों के नक्शे नहीं होते। यहाँ आपके पास सड़कों के सुंदर, आकर्षक नक्शे होते हैं। मैं जब भी यहाँ आता हूँ - मुझे भी यहाँ हर बार दर्जनों की संख्या में इसे खरीदना पड़ता है। मैं नहीं जानता कि मैं इनका क्या करूँगा लेकिन मैं सड़क के इन नक्शों को देखकर उन पर मोहित हो जाता हूँ। घर पर मेरे पास इनका एक गठ्ठर है - स्पेन, इटली, पुर्तगाल। मुझे लगता है कि एक दिन मैं इन सड़कों पर अकेला जाऊँगा और मुझे इनकी जरूरत पड़ेगी। इनकी छपाई कितनी सुंदर और आकर्षक है। बार्थोलोम्यू के सड़क के नक्शे! जितनी बार मैं उसे देखने के लिये खोलता हूँ - ८ फ्रैंक, ३५ फ्रैंक के व्यवसाय का शिकार हो जाता हूँ। एक और खरीद कर अपनी लाइब्रेरी में सजा देता हूँ।

जुलाई 11, 1991

अब पहला कानून यह है कि जिसे मार्गदर्शन की जरूरत न हो उसे मार्गदर्शन पाने का प्रयास नहीं करना चाहिये। दूसरा कानून कहता है कि जिसे मार्गदर्शन की जरूरत है उसे अवश्य ही मार्गदर्शन पाने का प्रयास करना चाहिये। तीसरा कानून बाबूजी महाराज ने बताया: मार्गदर्शक मिल जाये तो अपने को उसके साथ लोहे की जंजीरों से बाँध लो जिससे कभी भी उससे अलग न होने पाओ। ये संपूर्ण कानून हैं। अब हमें कड़े परिश्रम से अपने भीतर उस मार्गदर्शक की तलाश करनी है क्योंकि वास्तविक गुरु तो हमारे भीतर ही है। ईश्वर हमारे अंदर है। हमारा विवेक कहता है: अरे मूर्ख! वह यहाँ है। तुम बाहर कहाँ ढूँढ़ रहे हो? मंदिर या अन्य पूजास्थलों में स्वयं से बाहर उसे ढूँढ़ना हमारे विवेक को झुठलाना है। अगर वह यहाँ है तो मैं उसे बाहर क्यों ढूँढू? अगर मेरी पत्नी रसोई में खाना बना रही है तो मैं उसे बाग में जाकर बाहर तो नहीं ढूँढूगा? बच्चा पालने में सो रहा है तो बाहर स्कूल में तो उसे नहीं खोजूँगा? अब आप कहें: नहीं, नहीं, मैं तो ढूँढ़ने निकला हूँ। अरे भाई! आपका बच्चा तो घर में है। हाँ, फिर भी मुझे ढूँढ़ने में मजा आता है। मैं थोड़ा टहल भी लेता हूँ और इससे मेरे हाजमे में भी मुझे मदद मिलती है। इस तरह हम खुद को मूर्ख बनाते हैं। जिन लोगों को मालिक मिल भी गया है वह भी दूसरे मालिक को ढूँढ़ने की कोशिश करता है। चाहे बौद्धों के पास जाइये, ताओ ते चिंग के पास जाइये और जहाँ चाहे वहाँ जाइये। उनकी खिचड़ी बनाकर मूल मालिक के पास वापस आ जाइये। उन्हें टूटे हुये टुकड़ों को जोड़ना है। ऐसे लोग हमारे सत्संग में भारी तादाद में हैं। इनके बारे में ईसामसीह ने कहा था: ये अल्प निष्ठा वाले लोग हैं। वस्तुत: इनमें निष्ठा होती ही नहीं।

अब सवाल यह है कि मालिक के मिल जाने पर उनका परीक्षण कैसे करें? उनका आकलन हम किन मापदंडों से करें? क्या उनका वजन - किलोग्राम में नापकर या उनकी लम्बाई मीटर में नापकर हम उनका मूल्यांकन कर सकते हैं? या उनके प्रेम को हम गैलन में नाप सकते हैं? पहचान तो बस यही है कि अगर आपको अंदर से ऐसा आभास होता है कि आप सही व्यक्ति के साथ हैं तो आप उसे तब तक कस कर पकड़े रहिये जब तक आप यह कहने में समर्थ न हो जायें कि हाँ, यह आदमी सही है। यह जबाब भी आपके अंदर से ही आना चाहिये। पहले ऐसा आभास होता है कि यही वह आदमी है जिसकी मुझे तलाश थी और अंत में हम इस बात से आश्वस्त हो जाते हैं कि यही वह आदमी है। अगर आप अपनी खोज में सफल हो जाते हैं तो आप बाहरी मालिक को

जाने देकर अपने अंदर मुड़ जाते हैं क्योंकि यह वहीं है। यह हमेशा से यहीं रहा है। बाहर तो उसका प्रतिबिम्ब है।

इसका मतलब यह है कि हमें खुद पर ही भरोसा करना है। अगर अपनी खोज में हम मालिक पर निर्भर हो जाते हैं कि वे सही मालिक हैं इसे वे खुद ही सिद्ध करें तो हम उसी तरह की गलती करते हैं जैसी किसी फ्रेंच के साथ रेस्तराँ में जाने पर जब वह हमारे लिये अपनी पसंद की चीज एस्कारगोट मँगा लेता है, तब करते हैं। एस्कारगोट बढ़िया चीज है लेकिन यह उसकी पसंद है। अब यह तो आवश्यक नहीं कि यह हमें भी पसंद हो। अगर हम कोई कुत्ता पालते हैं और बह बहुत खुश होकर हमारे लिये अपनी पसंद की चीज - एक हड्डी ले आता है और हमारे चरणों में रख देता है तो तुरंत उठाकर चबाते हुये हम यह तो नहीं कह सकते: फिडो! तुम हमारे लिये आज बहुत बेहतरीन तोहफा लाये हो? हम इसे स्वीकार तो कर लेते हैं लेकिन इसे प्रयोग में नहीं लाते। चूँकि इसमें उसका प्रेम है - इसको लेने में प्यार दिखाकर हम उसको थपकी देकर कहते हैं - बहुत बढ़िया और जब उसकी दृष्टि दूसरी तरफ होती है उसे उठाकर ऐसी जगह फेंक देते हैं जहाँ से वह इसे दुबारा घर में न ला सके। इसी तरह जब बच्चे घोंघे, केंचुआ, तितलियाँ पकड़ लाते हैं तो इसे स्वीकार करते समय हम उनके उपहार को नहीं स्वीकार करते बल्कि उनके प्रेम को स्वीकार करते हैं। लेकिन यहाँ ज्यादातर मामलों में हम उपहार स्वीकार करते हैं प्रेम नहीं। हाँ, उपहार लेने के बाद जब हम इसे फेंकने में असमर्थता महसूस करते हैं तो हमें मालूम होता है कि इसमें प्रेम था।

यह साधारण परीक्षण है जिसमें आंतरिक आभास से हमें पता चलता है कि क्या करना है। अगर उपहार मिलते ही हमें ऐसा लगे कि इसे दूर रखना चाहिये तो इसका मतलब है कि हमारी नैसर्गिक बुद्धि हमें यह बता रही है कि इसमें हमारे मतलब का कुछ नहीं है। जैसे स्त्रियों को इस बात की जानकारी होती है कि पति जितना कीमती उपहार देता है वह उतना ही बड़ा अपराध छिपा रहा होता है। आदमी भी इसे जानता है लेकिन स्त्रियों में यह आभास अधिक तीव्र होता है। अब मेरी समझ में तो आभास दोनो में समान ही होता है लेकिन यहाँ प्रश्न यह नहीं है। हमें अगर अंदर से इस बात का आभास होता है कि यही वह आदमी है जो मेरा मार्गदर्शन कर सकता है तो हमें तुरंत उसका नेतृत्व स्वीकार कर लेना चाहिये। फिर अनुभव के आधार पर कि मेरी प्रगति हो रही है या नहीं - हमें उसका परीक्षण करना चाहिये।

अब यहाँ एक बात और समझने की है कि मेरी प्रगति हो रही है या नहीं - यह सवाल पूछने से पहले हमें खुद से यह सवाल भी पूछना चाहिये कि जो-जो वे मुझे करने को कह रहे हैं वह सब मैं कर रहा हूँ या नहीं। अगर मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ तो मेरी प्रगति का कोई सवाल ही नहीं है और मुझे गुरु पर दोषारोपण करने का भी कोई हक नहीं है। जब तक मैं उन चीजों का पालन नहीं करता जिन्हें करने की सलाह मुझे दी जाती है और उन चीजों से अलग नहीं रहता जिन चीजों से दूर रहने की सलाह मुझे दी जाती है अर्थात् जब तक मैं आज्ञाकारी नहीं हूँ तब तक मेरी प्रगति का कोई प्रश्न नहीं है। अगर मैं पूरी तरह से आज्ञाकारी हूँ तो मुझे चाहिये कि ३ महीने, ४ महीने, ६ महीने देखकर अगर हमारी प्रगति नहीं हो रही है तो हम उस व्यक्ति से दूर हो जायें। हमें यह समझ लेना चाहिये कि यह व्यक्ति ठीक नहीं है और इसके साथ हमारा रहना भी ठीक नहीं है। इसमें बहुत समय नहीं लगाना चाहिये - ३ महीने से लेकर ८ महीने का समय बहुत है। अगर इतने समय के अंदर आप खुद में परिवर्तन अनुभव करते हैं तो आपको चाहिये कि आप अभ्यास जारी रखें लेकिन अगर इन महीनों में परिवर्तन नहीं होता तो इसे जारी रखने का कोई मतलब नहीं है। हाँ, हम परिवर्तन की मात्रा का निर्धारण नहीं कर सकते कि कितने समय में कितना परिवर्तन होगा। इसका कारण है कि हमें यह पता नहीं होता कि आध्यात्मिकता वास्तव में क्या चीज है? हमारे सर्वोच्च विकास में क्या-क्या खतरे निहित हैं? बाबूजी ने एक बार कहा था: अगर बहुत ज्यादा प्राणाहुति दे दी जाय तो यह आपके स्नायु तंत्र को भी नष्ट कर सकता है।

फिर भी परिवर्तन तो हमें महसूस होना ही चाहिये। अगर यह परिवर्तन हम महसूस करते हैं तो हमें चाहिये कि हम इसको जारी रखें तथा और अधिक भक्ति के साथ इसका अभ्यास करें। लेकिन यहाँ यह बात भी याद रखने की है कि अगर हम आज्ञाकारी हैं, अपना अभ्यास नियमित ढंग से कर रहे हैं और इसके बाद भी हम खुद के अंदर परिवर्तन नहीं महसूस कर पाते तो हमें तत्काल अपना गुरु बदल देना चाहिये। वस्तुत: यह प्रगति निरन्तर वर्द्धमान है। हर परिवर्तन अपने पिछले परिवर्तन से बढ़कर होता है। गणित की भाषा में कहें तो कहेंगे कि यहाँ गुणित वृद्धि होती है। २+२+२+२ नहीं होता बल्कि २+४+१६+२५६ होता है। आध्यात्मिक विकास का यही स्वरूप है। बाबूजी ने कहा: अपना सिर घुमाइये और आप उसे अपनी प्रतीक्षा करते

हुये पायेंगे। अगर आपको वह नहीं मिलता तो इसका कारण केवल इतना है कि आपने उसे ढूँढ़ा ही नहीं। आप केवल जैकी से मेरी एन्ने की ओर मुड़ते हैं और परिणाम भी वैसा ही होता है कि आप एक तरफ जैकी को और दूसरी तरफ मेरी एन्ने को पाते हैं। आप उसे खोजते ही कहाँ हैं? मालिक की शिक्षा का सार, उनकी शिक्षा का लक्ष्य आपको उसकी प्राप्ति करने का तरीका सिखाने का है, जिसका कोई स्वरूप नहीं होता। मार्गदर्शक के रूप में आप उसके भौतिक स्वरूप का प्रयोग इसलिये करते हैं ताकि अंदर मिलने पर आप उसकी पहचान कर सकें। इस पहचान का कोई परम्परागत अर्थ नहीं है। यह तो उस तरह है जैसे आप चारलोते को पहचानते हैं। जैसे अगर कोई पिजा बना रहा है तो मैं बता सकता हूँ कि यह कौन सी पिजा है। मुझे इसे देखने का या इसका स्वाद लेने की कोई जरूरत नहीं है - मेरे लिये तो इसकी सुगंध ही काफी है। अपनी इस विशेषज्ञता को हमें आध्यात्मिकता में भी विकसित करना चाहिये ताकि जिस रूप में और चाहे जहाँ वह प्रकट हो मैं उसे पहचान सकूँ।

दुर्भाग्य से हममें इन संवेदनाओं का अभाव है क्योंकि मैंने कई अवसरों पर यह पाया है कि बाबूजी महाराज को अभ्यासियों ने नहीं पहचाना। वे मालिक को तभी पहचान पाते थे जब वे कुर्सी पर बैठ कर सिटिंग दे रहे होते थे। अगर कपड़े बदल कर वे सड़क पर कहीं घूमने निकल गये तो मैंने पाया है कि अभ्यासी उन पर ध्यान दिये बिना ही उधर से गुजर जाते हैं। चूँकि मुझे लोग बाबूजी की अपेक्षा सांसारिक दृष्टि से अधिक जानते थे - मुझे देखकर लोग कहते थे: बाबूजी! बाबूजी! अगर आप अपने मालिक को भी नहीं पहचान पाते तो आपके अभ्यास का क्या फायदा? जरूरी है कि आप अपने अंदर मौजूद वास्तविकता की पहचान करने में अपने हृदय का उपयोग करें और इसकी रचना बाहर करने में भी समर्थ हों। जब हम उसे देखें तो हमें चाहिये कि हम उसे पहचानें, स्वीकार करें और खुद से बाँध लें। दरअसल हमें उसका भरपूर उपयोग करना चाहिये लेकिन केवल आध्यात्मिकता के लिये। अब मिर्च का उपयोग आप वहाँ तो नहीं करते जहाँ इसकी जरूरत नहीं हो। आप ऐसा तो नहीं करते कि कुछ मिर्च आइसक्रीम में डाल लें, कुछ मिर्च शराब में डाल लें - ऐसा नहीं होता। हर चीज का अपना उद्देश्य होता है। मालिक का भी अपना उद्देश्य है।

जुलाई 11, 1991

अगर हम मालिक का उपयोग उसी उद्देश्य से करेंगे तो निश्चय ही हमारा जीवन पूर्ण उत्कर्ष पर होगा।

धन्यवाद !

IV

ओज़राँ, फ्राँस

जुलाई १२, १९९१

जुलाई १२, १९९१

बाबूजी महाराज ने शिक्षकों और विद्यार्थियों के बारे में मुझे एक और सच्चाई बतायी। उनका कहना था कि एक सच्चा शिक्षक सारी जिन्दगी सीखता ही रहता है। सुनने में यह बात भले ही अजीब लगे लेकिन यह सत्य है कि जो शिक्षक सीखना बंद कर देता है वह शिक्षक कहलाने के योग्य नहीं रह जाता। विद्यार्थी सीखना बंद कर सकता है चूँकि वह एक निश्चित उद्देश्य से सीखता है जैसे कोई इन्जीनियर बनने के लिये पढ़ता है, कोई डॉक्टर बनने के लिये पढ़ता है। लेकिन उनमें भी कुछ समझदार होते हैं जो सारे जीवन सीखते रहते हैं, अपने अनुभवों से तो वे सीखते ही हैं, दूसरों के अनुभवों से भी सीखते हैं। हमें यह बात समझनी चाहिये कि पुस्तकें हमारी पुरानी पीढ़ी के अनुभवों का जीवाश्म हैं और उनकी असली कीमत उतनी ही हैं जितनी वर्तमान में हम किसी जीवाश्म की समझते हैं।

यह मानव जाति की बहुत बड़ी विशेषता है कि उसने हजारों साल पहले वाणी पर अधिकार कर लिया फिर उसने लिखना-पढ़ना और छापना सीखा जिससे उसे अतीत के अनुभवों को सुरक्षित रख पाने में मदद मिली और आज वे वर्तमान पीढ़ी को उपलब्ध हो पाये। लेकिन यह सोचना कि हमारा अतीत बहुत पावन था या पुस्तकों में लेखकों के जो अनुभव है उनसे बढ़कर भी अतीत की कुछ सत्ता है - मेरी समझ में बकवास है। धार्मिक अनुभवों के बारे में भी यह बात सत्य नहीं है।

संसार का सारा धार्मिक साहित्य अतीत के महापुरुषों, व्यक्तित्वों, और संतों के अनुभवों तथा उनके कथनों से भरा हुआ है। उन्हें जो भी अनुभव हुये उसे उन्होंने लिपिबद्ध कर लिया। अपने अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने हमें यह बताया कि हमें अपना जीवन कैसे जीना चाहिये। हमारे लिये वे केवल दिशा निर्देश ही थे। इन्हें हमें इसके अतिरिक्त और किसी रूप में जैसे कड़े नियमों या विधि विधानों के रूप में नहीं लेना चाहिये। आज तो वे जीवाश्म की शक्ल में हैं। अब अगर हमारे पास ७७ लाख साल पुराना तरबूज हो तो यह हमारे किस काम का? यह हमें केवल इतना बताता है कि ७७ लाख साल पहले भी हमारे

यहाँ तरबूज होता था। इसी प्रकार इन ग्रन्थों में उल्लिखित सत्यों से यही प्रमाणित होता है कि उस समय भी ऐसे आध्यात्मिक लोग थे जिन्हें इस प्रकार के अनुभव हुये और अपनी उदारता, अपने प्रेम के वशीभूत होकर उन्होंने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया। लेकिन जहाँ तक इसके उपयोग का प्रश्न है - ये हमारे लिये जब उपयोगी हों तभी हमें इनका उपयोग करना चाहिये।

जब भी हम इन ग्रन्थों की उपयोगिता पर विचार करते हैं तो हमें यह देखना चाहिये कि आज के इस युग में इनकी क्या प्रासंगिकता है। ये वर्तमान समय में हमें आध्यात्मिक स्तर की किस ऊँचाई तक पहुँचाने में समर्थ हैं? उदाहरण के लिये अगर हमारे पूर्वज दो डंडियों को आपस में रगड़कर या चकमक पत्थर पर पत्थर रगड़कर आग पैदा करते थे तो आज भी हम उसी की नकल करें - ऐसा तो नहीं होना चाहिये। हालाँकि १५ साल पहले हमने जो लाइटर बनाया उसमें यही प्रयोग दुहराया गया। चकमक पत्थर और पलीता और रगड़ पैदा करने का भी इसमें इन्तजाम किया गया। कहने का मतलब यह है कि सिद्धान्त तो अब भी हैं लेकिन उनके इस्तेमाल का तरीका बदल गया है। पुस्तक का अनुसरण करने, उसके अनुसार चलने या उसकी शपथ लेने में खतरा यह है कि हम कहीं अतीत में ही न फँस जायें। अगर हम अतीत में ही फँसे रहे - इसी से नहीं मुक्त हो पाये तो हम वर्तमान से कैसे मुक्त होंगे?

मेरी समझ में तो अतीत के ढाँचों, अतीत के ज्ञान, अतीत के अनुभवों से हमारा जुड़ाव, उनके प्रति हमारी आसक्ति भी एक प्रकार का हमारा बौद्धिक संस्कार ही है और संस्कार तो संस्कार ही हैं। यह एक समान होते हैं। अब जब कोई अतीत की परम्परा दुहराता है तो कहता है कि यह १००० साल पुरानी परम्परा है, २००० साल पुरानी परम्परा है आदि .....। लेकिन पुरानी होने से कोई चीज बेहतर तो नहीं हो जाती। आज हम पुरानी चीजों का संग्रह करते हैं तो केवल इसलिये कि ये दुर्लभ हैं, पुराने हैं और उस जमाने में भी कितनी रचनात्मकता थी - इसे देखने के लिये। मैं नहीं समझता कि उनका इसके अतिरिक्त अपने आप में भी कोई महत्व है। इनका भी हम मूल्य निर्धारित कर देते हैं जैसे सरकार द्वारा छापे गये कागज के टुकड़े का मूल्य होता है। हमारा यह मूल्य निर्धारण पूरी तरह से काल्पनिक है और हमें इसका कोई भी मूल्य निर्धारित कर लेने की स्वतंत्रता प्राप्त है। अगर कोई चीज बहुत दुर्लभ है जैसे टिकटों में हाफ-पेनी ब्लैक,

जो सारी दुनिया में शायद एक या दो हैं तो इनकी कीमत भविष्य में $३००,०००, $३० लाख या $२ करोड़ कुछ भी हो सकता है। ये चीजें केवल एक बैंक की तिजोरी से दूसरे बैंक की तिजोरी में ही जाती हैं। इसे कभी कोई देख नहीं पाता। शताब्दियों तक कभी कोई इसका प्रयोग नहीं कर पाता फिर भी इसका मूल्य बढ़ता ही रहता है। एक बार दि स्लीपर अवेक्स नामक एक कहानी में मैंने एक ऐसे आदमी के बारे में पढ़ा जो समय की यात्रा में रुचि रखता था और उसने इस पर अधिकार भी कर लिया था। वह अपने से तीन शताब्दी पीछे गया और वहाँ जाकर उसने बैंक में कुछ पैसे रखे और सो गया - तीन सौ साल बाद जब वह उठा तो वह सारी दुनिया का मालिक था क्योंकि ३०० साल पहले उसके द्वारा लगाया गया पैसा बढ़ता चला गया था।

यह तो कहानीकार की कल्पना थी लेकिन आज हमारे पास एक ऐसी चीज है - संस्कार, जिसका मूल्य बढ़ता जा रहा है क्योंकि उस पर ब्याज इकठ्ठा होता जा रहा है। संस्कारों में रुचि के कारण यह ब्याज दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। अब आप विद्रोहपूर्वक मुझसे यह कह सकते हैं कि बताइये! मैं अपने संस्कारों में रुचि कैसे ले रहा हूँ? लेकिन यह सत्य है कि हम अपने संस्कारों में रुचि ले रहे हैं। जब संस्कारों के कारण हम कुछ करते हैं और उसमें रुचि लेते हैं तो इससे हमारे ऊपर इसकी कुछ छाप जरूर पड़ती है और यह ठोस होकर संस्कार का रूप धारण कर लेती है। इस तरह हमारी पूँजी पर ब्याज बढ़ता चला जाता है। अगर हम गौर करें तो पाते हैं कि आध्यात्मिकता में भी अर्थशास्त्र का सिद्धान्त उसी रूप में लागू होता है। बस फर्क यह है कि यहाँ यह हमारे विरूद्ध कार्य करता है। इसलिये हमें पिछले संस्कारों को भोगते समय उनसे लगाव नहीं पैदा करना चाहिये।

फिर मैं अतीत और उसकी हम पर पकड़ - इस विषय पर वापस आता हूँ। दरअसल में अतीत में हमारे फँसाव के कई कारण हैं। पहला कारण तो अतीत की चीजों के प्रति हमारे मन में बैठी हुई श्रद्धा ही है। भले ही हम अपने पितामह या प्रपितामह को प्रेम न करते हों, उनका नाम न जानते हों लेकिन हमारे प्रपितामह ने जो किया वही हमारे पितामह ने किया, जो पितामह ने किया उसे हमारे पिता ने दुहराया और जो हमारे पिता ने किया उसे आज हम दुहरा रहे हैं। इससे क्या हो रहा है - हमारा जीवन एक ढर्रे पर चलता जा रहा है। पुरानी परम्परायें पीढ़ी दर पीढ़ी और ठोस तथा रीतिमय होती जा रही हैं -

अर्थहीन, सारहीन और अधिक से अधिक प्रभावहीन! इससे हम और अधिक मजबूती से बँधते जा रहे हैं। यही हमारे संस्कार हैं।

आपको मैं शास्त्रों के महत्व से संबंधित एक कहानी सुनाता हूँ। इसे मैंने आपको शायद पहले भी सुनाया है। शास्त्र क्या है - एक धार्मिक ग्रंथ या प्रशिक्षण की पद्धति। यह कहानी एक ऐसे गुरु की है जिसके एक गुरु हैं। छोटा गुरु अपने गुरु से मिलने जाता है। जब वह अपने गुरु के पास पहुँचता है तो उसके गुरु अपने घर के बाहर आकर उसकी तीन बार परिक्रमा करते हैं और उसको साष्टाँग दण्डवत करते हैं फिर अपने घर के अंदर जाकर अपने शिष्यों को पढ़ाने लगते हैं। शिष्य ये देखकर आश्चर्य में भर जाते हैं। बड़ा गुरु छोटे गुरु को कैसे प्रणाम कर सकता है या यों कहा जाये कि गुरु अपने शिष्य को कैसे प्रणाम कर सकता है? इसलिये शिष्य उस छोटे गुरु से पूछते हैं: बताइये! एक गुरु शिष्य के सामने कैसे नतमस्तक हो सकता है? उसने बताया: वे तो मालिक हैं, वे कुछ भी कर सकते हैं। इस उत्तर से शिष्य संतुष्ट नहीं हुये फिर उन्होंने बड़े गुरु के पास अंदर जाकर यह पूछा: गुरुजी! बताइये कि आपने अपने शिष्य के साथ इस प्रकार का व्यवहार क्यों किया? उन्होंने पूछा: क्या मैंने ऐसा किया? मैंने तो ऐसा नहीं किया। शिष्यों ने कहा: लेकिन गुरुजी! हमने आपको ऐसा करते हुये देखा है। तब गुरुजी ने बताया: दरअसल मैंने वहाँ अपने गुरुजी को देखा इसलिये मेरा तीन बार उनकी परिक्रमा करना और उन्हें साष्टाँग प्रणाम करना स्वाभाविक ही था। शिष्यों को लगा कि गुरुजी कुछ छिपा रहे हैं। फिर वे छोटे गुरु के पास गये। उन्होंने उनसे पूछा: आपने कहा कि गुरु कुछ भी कर सकते हैं लेकिन क्या यह शास्त्र विरूद्ध आचरण नहीं है? क्या यह आध्यात्मिक और धार्मिक कानून के विरूद्ध नहीं हैं? फिर उस छोटे गुरु ने एक महान सत्य उद्घाटित किया: जब तुम्हारे पास जीवित गुरु हैं तो तुम्हारे लिये शास्त्रों का कोई महत्व नहीं है। चूँकि शास्त्रों का रचनाकार तो वह खुद ही है।

अब देखिये! अगर आपके पास केवल प्राचीन ग्रंथ हैं और कोई गुरु नहीं है तो आपके पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है कि आप उन ग्रंथों का अंधानुसरण करें चूँकि ग्रंथ हमसे बोल तो नहीं सकते, न ही हमारा उनसे अंत:संपर्क हो सकता है, वे तो केवल छपे हुये शब्द हैं। कभी-कभी तो हम उनकी भाषा भी नहीं समझ पाते। हम उनका वह अर्थ भी शायद ही जान पाते हैं जिन अर्थों को व्यक्त करने के लिये

उन्हें लिखा गया था। पुरानी यूनानी, पुरानी लैटिन, पुरानी फारसी, पुरानी हिब्रू - इन भाषाओं को आज कौन जानता है? इसलिये हम उन्हें बिना समझे दुहराते रहते हैं: हमारे पिता जो स्वर्ग में हैं, उनके नाम में हमारी श्रद्धा हो, स्वर्ग की तरह पृथ्वी पर भी उनका राज आये। वे हमें आज का हमारा भोजन प्रदान करें आदि .....। इन प्रार्थनाओं को करने के बाद हम सोचते हैं कि ईश्वर के प्रति और खुद के प्रति हमारा आध्यात्मिक कर्तव्य पूरा हो गया। लेकिन विड़म्बना यह है कि प्रार्थना के बाद भी हम उसी अवस्था में रहते हैं जिस अवस्था में सालों से चलते आ रहे थे।

इस तरह हम पाते हैं कि ग्रंथ हमारा उद्देश्य सफल नहीं होने देते। दरअसल ये तो एक निश्चित समय में, अतीत के एक विशेष युग में लिखे गये थे जिस समय उनकी प्रासंगिकता थी। लेकिन आज तो हम सर्वथा भिन्न परिस्थिति में, भिन्न समय में और मिन्न संसार में रह रहे हैं। इसीलिये बाबूजी ने बताया: लालाजी ने सहजमार्ग की पुनर्खोज की और समय की जरूरतों के मुताबिक इसे परिवर्द्धित किया। अब हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि पद्धति ऐसी हो जो आज के समय में हमारी वर्तमान परिस्थितियों में प्रभावपूर्ण हो, हमारे लिये सर्वथा उपयुक्त हो अन्यथा इसका हमारे लिये क्या उपयोग है?

धर्म के साथ यही समस्या है। यह हमें अतीत से बाँध कर, आदम और हौवा के पापों से जकड़ कर रखता है। हम कहते हैं कि उन्होंने पाप किया। यही मूल पाप का सिद्धान्त है जिसमें हम कहते हैं कि हम गिरते चले जा रहे हैं। मैं तो ऐसा नहीं मानता। मेरी समझ में १. यह दर्शन, यह तत्व-मीमांसा विकास विरोधी है। २. यह अनर्थ करती है। ३. यह हमें खुद के लिये अनुपयोगी भी बनाती है। ४. यह हमें इतना अक्षम बना देती है कि हम खुद के लिये कुछ कर ही नहीं सकते। ५. जहाँ चर्च को चाहिये कि वह हमें इस दासता से मुक्त करे, यह हमें खुद से दास की तरह बाँध देती है। ये पाँच ऐसे महत्वपूर्ण कारण हैं जिनकी वजह से हमारा इस धार्मिक दासता से मुक्त होना जरूरी है। यह हमें रोम और मिस्त्र की पुरानी दास-प्रथा की याद दिलाता है। वहाँ भी हम दासता से मुक्त हो जाते थे लेकिन धर्म की दासता से छुटकारा पाना हमारे लिये आज बहुत कठिन हो गया है। आप यह मत समझिये कि मैं आपको धर्म के विरूद्ध विद्रोह करने के लिये कह रहा हूँ। मैं तो केवल आपके सम्मुख इन तथ्यों को रखने की कोशिश कर रहा हूँ।

अगर ये धार्मिक कर्मकाण्ड हमें मुक्ति दिला पाते तो मानव जाति यहाँ नहीं होती। चाहे चर्च हो या मंदिर - हमें सोचना चाहिये कि लाखों सालों से हम वहाँ प्रार्थना कर रहे हैं, उपदेश सुन रहे हैं, आखिर आज भी हम यहीं क्यों हैं? हम क्या कर रहे हैं?

इन चीजों का परीक्षण हमें भावुक होकर नहीं बल्कि व्यावहारिक होकर करना चाहिये। हमें सोचना चाहिये कि यह मेरे लिये क्या कर रही है? क्या मैं इसका पालन करके एक रत्ती भी विकसित हुआ हूँ? जहाँ मैं कल था वहाँ से क्या मैं एक सेंटीमीटर भी आज आगे खिसका हूँ? अगर इसका जबाब नहीं में है तो हमें अपनी पद्धति बदलनी होगी। अगर मैं पेरिस के गारेडिलियान में टी.जी.वी. में बैठा हूँ और यह नहीं चलती तो हमारे लिये इसका क्या मतलब है कि यह दुनिया की सबसे तेज चलने वाली ट्रेन है जिसे फ्राँस की महान कम्पनी एस.एन.सी.एफ. चला रही है। अगर यह १२:२५ की जगह १२:२७, १२:४० या १२:५० पर चले तब भी कोई समस्या नही है लेकिन इसे चलना चाहिये। अगर यह ३:०० बजे भी यहीं खड़ी है तो इसका निश्चित मतलब यही है कि इसमें कुछ खराबी आ गयी है और अगर मैं ३:०० बजे तक इसी में बैठा हुआ हूँ तो इसका मतलब तो केवल यही है कि मैं मूर्ख हूँ। धर्म की भी यही कहानी है। यहाँ मैं आपको स्वामी विवेकानन्द के द्वारा कही गयी उस उक्ति को सुनाना चाहता हूँ जिसमें उन्होंने कहा: किसी धर्म में जन्म लेना तो बहुत अच्छी बात है लेकिन अगर हम उसी धर्म में मरते भी हैं तो हमारे लिये यह बहुत बुरी बात है। इस कथन को बहुत कम लोग समझ पाते हैं। इसका मतलब केवल इतना है कि हमें किसी चीज में पैदा होकर उससे विकसित होना चाहिये। अब हम किसी भी चीज की शुरुआत करते हैं तो इसे बढ़ना चाहिये, विकसित होना चाहिये।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त में मृत्यु का भी महत्व है। शरीर का उद्देश्य पूरा हो जाने पर यह हमारे लिये उपयोगी नहीं रह जाता। उद्देश्य की प्राप्ति के बाद यह हमारे लिये केवल एक बंधन या कैद बनकर रह जाता है। मृत्यु से हम इस कैद से बाहर आते हैं। यह एक स्वैच्छिक क्रिया है। अब हमारी निम्न चेतना इस बात को भले ही न जानती हो लेकिन यह है एक स्वैच्छिक क्रिया ही। अगर हमें इस भौतिक अस्तित्व को कायम रखते हुये आगे विकास करना है तो हम मृत्यु के बाद दूसरा शरीर धारण करते हैं। यह उसी तरह है जैसे हम विद्यालय में एक कक्षा के बाद दूसरी कक्षा में जाते हैं। जैसे हम सेना में एक के बाद

दूसरे पद पर पदोन्नत होते जाते हैं। अब यहाँ अगर हम गौर करें तो पायेंगे कि एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाना मृत्यु तो नहीं है। हम इसलिये रोने तो नहीं लगते कि हम अब पहली कक्षा के अध्यापक के साथ नहीं रह पायेंगे? हम जिस बेंच पर बैठते थे उससे हमारा नाता टूट गया। हमें इससे बाहर निकल कर खुशी होती है।

इसी तरह मृत्यु में, शरीर छोड़ कर हमारी आत्मा भी खुश होती है। किसी मनुष्य की मृत्यु के बाद अगर आप उसके चेहरे पर गौर करें तो उसके जीवन में भले ही उसके चेहरे पर ऐसी शान्ति कभी न दिखी हो लेकिन मरने के बाद उसके चेहरे पर परम शान्ति परिलक्षित होती है। यह एक तथ्य है - एक सच्चाई है। हमें शवों को देखने का साहस करना चाहिये। शव को कपड़ा पहनाना, रंगना, नहलाना, उसे पुरुष या महिला के रूप में प्रदर्शित करना बेवकूफी के अलावा कुछ नहीं है। मृत्यु के बाद भी हम जीवन से छल करते हैं। शव नवजात शिशु से कम सुंदर नहीं होता बशर्ते आपके पास उसे देखने के लिये आँखें हों - अगर आप उस चरम शान्ति, चरम आनन्द को देख सकें। इसी वजह से हठयोग की पातंजलि योग पद्धति में शवासन नाम का भी एक आसन है। शवासन का अर्थ है शरीर को उस स्थिति में लाना जिसमें शव रहता है। इसमें हमें यह शिक्षा दी जाती है कि हम शव की तरह बिना हिले-डुले बिल्कुल आराम की मुद्रा में पूरी तरह से तनावमुक्त होकर पड़े रहें। अगर आप इसे रोज १०-१५ मिनट करें तो आपको दवा, डॉक्टर, मनोचिकित्सक - किसी की जरूरत नहीं पड़ेगी लेकिन यह करना आसान नहीं है - जीवित रहते हुये शव की स्थिति में आना। बाबूजी ने इसी आध्यात्मिक अवस्था को जीवित मृत की संज्ञा दी है।

वास्तव में आध्यात्मिकता का पूरा जोर इस बात पर है कि हम मृत्यु की अवस्था को प्राप्त हुये बिना ही मृत्यु की दशा को प्राप्त कर लें जबकि धर्म का सारा जोर बिना जिन्दगी को जिये ही जिन्दगी को प्राप्त कर लेने का है। वस्तुत: ये दोनो विचार की दो विरोधी धारायें हैं - अभ्यास, तत्व मीमांसा, शिक्षा और उपलब्धि सभी दृष्टियों से दो विरोधी धारायें! एक बिना जिये जीता है इसलिये जब वह जीवित है तब भी मरा हुआ प्रतीत होता है और दूसरा बिना मरे मर जाना चाहता है इसलिये वह मरकर भी जीवित रहता है। यही मोक्ष है। अब अगर आपसे कोई पूछे कि धर्म और आध्यात्मिकता में क्या अंतर है तो आपको यह अंतर

बताने में समर्थ होना चाहिये। आपको यह बताना चाहिये कि यह धर्म है और यह आध्यात्मिकता है।

मैं तो समझता हूँ कि धर्म की सबसे बड़ी गलती यह है कि यह हमें ईश्वर से पुनः जोड़ने की कोशिश करता है। अब मैं सोचता हूँ कि अगर सेकेंड के एक लाखवें हिस्से के लिये भी मुझे मेरे शरीर से अलग कर दिया जाये तो मैं जीवित नहीं रहूँगा फिर यह पुनः जोड़ने का प्रश्न कहाँ से पैदा हो गया? मेरे मत में तो यह सरासर झूठ है। आज धर्म में हम इस झूठ को जी रहे हैं, इसे स्वीकार कर रहे हैं, इसे भुगत रहे हैं और जो कभी नहीं हो सकता वह अर्थात् ईश्वर से अलगाव महसूस कर रहे हैं क्योंकि धर्म में हमें यही सिखाया गया है। आज पृथ्वी पर दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण यही है। खुद को पृथक महसूस करके हम नैतिक रूप से पतित होते जा रहे हैं। हम सोचते हैं कि जब ईश्वर यहाँ नहीं है तो मेरे यहाँ कुछ भी करने से क्या फर्क पड़ता है? स्वर्ग में उसके होने का हमारे ऊपर क्या असर होगा? ईश्वर के यहाँ न होने से पाप-कर्म करने और अपराध करने के लिये हम स्वतंत्र हो जाते हैं। और जब शुक्रवार को हम चर्च में जाकर अपना अपराध उसके सामने स्वीकार कर लेते हैं, उससे पुनः जुड़ते हैं, हमारे सारे पापों का समाधान हो जाता है। हमारा काम पूरा हो जाता है।

मेरी समझ में ईश्वर से पुनः जुड़ने का यह प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है। जिस संपर्क को कभी तोड़ा ही नहीं जा सकता उससे पुनः जुड़ने का क्या मतलब है? हम तो शाश्वत काल से ईश्वर का हिस्सा हैं। अगर यह सच नहीं होता तो हम इसे महसूस करें या न करें आज हम यहाँ नहीं होते। जब तक हम इसे महसूस नहीं करते हम अनभिज्ञ बने रहते हैं लेकिन जैसे ही हम इसे महसूस करते हैं हम आध्यात्मिक होने लगते हैं। आध्यात्मिकता हमें खुद के अंदर झाँकना सिखाती है। यह हमें सिखाती है कि हम अपना ध्यान हृदय में उपस्थित ईश्वरीय प्रकाश की ओर मोड़ें। धीरे-धीरे ध्यान के अभ्यास द्वारा इसकी गहराई में उतर कर हम उस दिव्य उपस्थिति में लय होने लगते हैं और जब हमें यह बोध भी नहीं रह जाता कि हम यहाँ हैं तो हमें उस अवस्था की उपलब्धि होती है जिसे समाधि कहा जाता है। तब हम आश्चर्य करना शुरु करते हैं कि आखिर यह सब क्या है? बैठकर ध्यान करना और इस दुनिया से बेसुध हो जाना ही हमें इस दुनिया में रहने से अच्छा लगने लगता है। लोग कहने लगते हैं कि यह इतना अच्छा था। आपने

ध्यान बंद क्यों कर दिया? आपने इतनी जल्दी सिटिंग खत्म क्यों कर दी? यह कितनी अद्भुत थी - मैं इसमें पूरी तरह डूबा हुआ था। मैं यह तो नहीं जानता कि मैं सो रहा था या समाधि की अवस्था में था लेकिन यह अद्भुत था।

किसी धर्म ने कभी भी आपको यह अवस्था प्रदान की है? वह तो आपको केवल किसी प्रतिमा या चिन्ह की पूजा करना सिखा देता है। इसे चूमने के लिये कहता है। लेकिन क्या कभी इसने आपको आशीर्वाद दिया? आप उसे वहीं छोड़ कर बाहर आ जाते हैं। जहाँ धर्म हमें हमारे स्रोत से बार-बार अलग करती है वहीं आध्यात्मिकता ध्यान की पहली सिटिंग में ही हमें हमेशा के लिये उस स्रोत से जोड़ देती है। फिर यह संपर्क गहनतर होता जाता है और अंत में यह इतना गहन हो जाता है कि हम उस में लय होकर संपूर्ण हो जाते हैं।

धर्म और आध्यात्मिकता के इस अंतर को समझना हमारे लिये बहुत जरूरी है। यह अंतर इतना ज्यादा है कि इस पर कई ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। धर्म कहता है कि ईश्वर के विरूद्ध कोई पाप मत करो जबकि आध्यात्मिकता कहती है कि तुम अपने 'स्व' के विरूद्ध कोई पाप मत करो। धर्म कहता है कि ईश्वर से झूठ मत बोलो लेकिन आध्यात्मिकता कहती है कि खुद से झूठ मत बोलो। अगर हम भावुक हुये बिना धर्म और ईश्वर के बारे में विचार करें तो हमें मालूम होगा कि हमारा कोई धर्म है और कोई ईश्वर है - यह भी झूठ ही है। कोई भी धर्म या ईश्वर केवल आपका कैसे हो सकता है? नाम भले ही अलग-अलग हों लेकिन आपका ईश्वर निश्चित रूप से मेरा भी ईश्वर है। हाँ, यह हो सकता है कि आप उसे कुछ और कहते हों और मैं उसे कुछ और कहता होऊँ। ईश्वर तो एक ही होता है। यह सम्भव ही नहीं है कि क्रिश्चियनिटी का ईश्वर हिन्दुओं के ईश्वर से या मुसलमानों के ईश्वर से अलग हो। सब एक ही हैं लेकिन हम इन नामों पर ही पता नहीं कितने शदियों से झगड़ा करते आ रहे हैं। वस्तुत: धर्म ने ही हमें ईश्वर के नाम पर झगड़ा करने के लिये उकसाया है। ईश्वर के नाम पर लोगों को सूली पर चढ़ाया गया है, लोगों की हत्यायें की गयी हैं, मानव जाति को ईश्वर के नाम पर उस सीमा तक बाँटा गया है जब तक इस समाज में जातिगत और धार्मिक घृणा न फैल जाये। यहूदी कहता है: हे अब्राहम के ईश्वर! वह कभी भी इस बात को नहीं जान सकेगा कि अब्राहम का ईश्वर कौन है, जिसका नाम नहीं है। यह तो सही है कि ईश्वर का कोई नाम नहीं होता लेकिन अगर आप किसी

ऐसी दीवाल का भी उपयोग करते हैं जिस पर कोई चिन्ह न बना हो तब भी दीवाल का उपयोग भी तो इस अवधारणा के खिलाफ है कि ईश्वर का कोई नाम या रूप नहीं होता। आखिर मुझे इस दीवाल की जरूरत भी क्यों होनी चाहिये?

इसीलिये बाबूजी कहते थे: धर्म हमें बाँटता है जबकि अध्यात्म हमें जोड़ता है। जब हम ध्यान में बैठते हैं, कोई भी नाम-रूप वाला ईश्वर हमारे सामने नहीं होता। वस्तुत: ईश्वर का न तो कोई नाम होता है, न रूप होता है और न ही कोई गुण। यह पूरी तरह से निराकार होता है। आज १५ राष्ट्रीयतायें, २५ राष्ट्रीयतायें एक जगह इकठ्ठी होकर ध्यान में बैठ पायी हैं इसका कारण यही है कि अध्यात्म हमें आपस में जोड़ता है। मैंने देखा है कि आजकल सार्वभौमिक मंदिर बनने लगे हैं जिसमें बुद्ध की, शिव की, कृष्ण की या सूली पर चढ़े हुये ईसामसीह की मूर्ति एक साथ लगी रहती है। यहाँ भी वे चर्च, मंदिर या पूजा के एक स्थान में विभाजित दिखते हैं।

सच्ची एकता तो केवल हृदय से ही आ सकती है और हृदय की एकता के लिये जरूरी है कि हम अंतरतम में बैठे उस स्व को मान्यता प्रदान करें। अंतरतम का यह स्व सबमें एक ही है। यह स्व जो सार्वभौमिक है, सभी चीजों में है, इसे मान्यता देने से हम न केवल एक मानव जाति के सदस्य बन जाते हैं बल्कि इस पृथ्वी पर विद्यमान हर अस्तित्व से खुद को जोड़कर पहचानना सीख लेते हैं - चाहे यह पत्थर हो, चिड़िया हो, पेड़ हो, जानवर हो या कोई अन्य वस्तु क्योंकि यह स्व तो उसके हृदय में भी है।

धर्म केवल मानव-मानव के बीच ही भेद नहीं करता बल्कि यह मानवता को पूरी सृष्टि से अलग कर देता है। हम कहते हैं: हे अब्राहम के ईश्वर! क्यों नहीं कहते कि हे शेर के ईश्वर! या हे भेंड़ के ईश्वर! हे पहाड़ के ईश्वर! आखिर मूसा को तो ईश्वर पाने के लिये पहाड़ पर ही जाना पड़ा। वस्तुत: धर्म मनुष्य को मनुष्य से ही अलग नहीं करता बल्कि उसे हर चीज से अलग कर देता है। इस तरह देखें तो हर आदमी एकाकी है, पृथक है और अपने आप में दर्द का पहाड़ है। उसका कोई साथी नहीं है। उसे किसी में भरोसा नहीं है। उसका आत्मविश्वास खत्म हो गया है। अगर उसकी टाँगें कटी हुई हैं, कैंसर है, बिस्तर पर पड़ा हुआ है तो वह किसी ईश्वर की शरण में भी नहीं जा सकता। उसे ईश्वर के बिना ही मरना पड़ता है। देखिये! कितनी

दु:खद स्थिति है। चरम दु:ख, सर्वोच्च दु:ख, एकाकीपन, घोर निराशा और अँधकार!

अब सवाल यह है कि आध्यात्मिकता में भरोसा करने के लिये क्या है? धर्म में तो विश्वास की जरूरत होती है। आस्था की जरूरत होती है। आध्यात्मिकता में केवल आपकी जरूरत होती है। अगर आपमें पूर्ण बनने की चाहत है तो आप आध्यात्मिकता के लिये सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति हैं। बस जरूरत इस बात की है कि आप बैठें और ध्यान करें। ध्यान किसका? हृदय में ईश्वरीय प्रकाश का। प्रकाश का ही क्यों? क्योंकि मालिक के अनुसार प्रकाश एक अर्थ में भौतिक नहीं है। इसका कोई रूप, कोई गुण, कोई आकार नहीं है। यह आध्यात्मिक सर्वोच्चता के निकट है। अगर यह समझकर आप ठीक से ध्यान की पद्धति को अपनाते हैं तो इससे आपको जरूर फायदा होगा, अवश्य ही आपका आध्यात्मिक विकास होगा। लेकिन यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि आपके ध्यान करने से मैं या मेरे ध्यान करने से आप आध्यात्मिक नहीं हो सकते।

आध्यात्मिकता हमारी जिम्मेदारी हमें ही वापस कर देती है। पूजास्थलों पर भिखारी बनने, घुटनों के बल प्रार्थना करने, पुजारियों के सामने नाक रगड़ने, अपराध बोध के कारण छाती पीटकर रोने की अपेक्षा आध्यात्मिकता कहती है: मेरे पुत्र! वहीं बैठो जहाँ तुम हो। स्वयं को हृदय में पहचानो। हृदय में ध्यान करो। उसे पाओ जो हमेशा से वहाँ है। जब वह हम स्वयं ही हैं तो वह कोई ऐसी चीज कैसे हो सकता है जो हम नहीं हैं। यही वह समय है जब हमें इस बात का बोध होता है कि मैं ही सब कुछ हूँ। मैं ईश्वर नहीं हूँ लेकिन मैं ईश्वरीय हूँ। मैं ईश्वर जैसा हूँ। आज मेरा सौभाग्य है कि मैं जिसे सारी जिन्दगी सारी दुनिया में ढूँढ़ता रहा, उसे मैंने अपने अंदर पाया। पता नहीं मैंने उसे इसके पहले कितने जीवनों में ढूँढ़ा है?

धर्म और आध्यात्मिकता में यही अंतर है। हमें ध्यान देने की जरूरत है कि हम इनमें से किसी एक को भावुकता में या परम्परा की वजह से न चुन लें - इसे उपयोगिता की दृष्टि से चुनें। परम्परा अच्छी हो सकती है लेकिन जरूरी नहीं कि वह उपयोगी भी हो। हर अच्छी चीज उपयोगी नहीं होती। हीरे का एक टुकड़ा सुंदर तो हो सकता है - २५ कैरेट! मैं इसे रखना जरूर पसंद करूँगा लेकिन अगर मैं किसी टापू पर हूँ जहाँ खाने को कुछ नहीं है तो हीरा मेरे लिये अन्य चीजों की तरह ही अनुपयोगी है। मुझे यह समझना चाहिये कि मेरे लिये क्या

उपयोगी है और क्या नहीं। हीरा, फर, रेशम, अच्छे घोड़े, कारें पाकर हमें खुशी तो जरूर होती है लेकिन ये दूसरी तरह की चीजें हैं।

हमें उन चीजों में अंतर करना आना चाहिये जो हमारे लिये उपयोगी और प्रभावशाली हैं और जो हमारे लिये केवल उपयोगी हैं। दुनिया में हर चीज अच्छी है, प्रकृति में हर चीज अच्छी है, ईश्वर ने कोई चीज खराब नहीं बनायी। वह कोई ऐसी चीज बना ही कैसे सकता था जो बुरी हो। लेकिन उसने एक कानून बनाया कि कुछ चीजें साथ-साथ नहीं हो सकतीं जैसे मनुष्य और भ्रष्टाचार! दोनो साथ-साथ नहीं चल सकते। अगर ओल्ड टेस्टामेन्ट सही है तो ईश्वर ने मनुष्य को खुद की तरह बनाया। फिर हम भ्रष्ट कैसे हो सकते हैं? हम धूर्त कैसे हो सकते हैं? हम निर्दयी कैसे हो सकते हैं? जब हमें यह बताया गया कि यह मत करो, वह मत करो तो इसका मतलब स्पष्ट है कि हमें यह भी बताया गया कि हमें क्या करना है। हमें अपने मूल रूप में वापस आना है, हमें दिव्य बनना है, प्रेमपूर्ण, कृपापूर्ण, दयापूर्ण बनना है। हमें हर चीज से वैसा ही व्यवहार करना है जैसा हम स्वयं के लिये चाहते हैं - स्वयं के अंश के रूप में नहीं, न ही भाई बहन की तरह। मैंने देखा है कि भाई बहन आपस में औरों की अपेक्षा कहीं अधिक झगड़ा करते हैं। यही केन और एबेल की पुरानी कहानी में भी है।

हम आध्यात्मिक भाईचारे में भी असफल हो जाते हैं क्योंकि हम अभी भी भाईचारे के बारे में सोच रहे होते हैं। सगे भाई तो हमेशा लडते रहते हैं - अपने पिता की संपत्ति के लिये झगड़ा करते रहते हैं। यहाँ तो एक भिन्न प्रकार का भाईचारा है जहाँ मैं स्वयं को दूसरों में देखता हूँ और इसी तरह दूसरे भी मुझमें खुद को देखते हैं। इसीलिये हम दूसरों की ओर देखने पर भी पाते हैं कि खुद को ही देख रहे हैं, खुद को ही प्रेम कर रहे हैं। यह अब मेरा या आपका स्व नहीं रह जाता - यह स्व तो हमारे हृदय में स्थित सर्वोच्च का प्रतिबिम्ब हो जाता है।

इस तरह हम पाते हैं कि आध्यात्मिक जीवन एक असाधारण हृदयस्पर्शी अभिध्यान है। इस जीवन में कदम रखने के बाद भी अगर हम अतीत के बारे में सोचते हैं तो हम भविष्य की आध्यात्मिक समृद्धि को अपने लिये नकार देते हैं। यह आध्यात्मिक जीवन का महानतम सत्य है। आध्यात्मिक जीवन कहता है: स्वयं को अतीत से मुक्त कर दो - संपूर्ण अतीत से! क्योंकि आप यह छाँट नहीं सकते कि अतीत के किस भाग से आपको मुक्ति चाहिये। मैंने कल कहा भी था कि अगर आपको उल्टी हो जाये तो आप उसमें से कुछ चीजों को छाँटकर केवल इसलिये

नहीं खा सकते क्योंकि वह अच्छी है - उल्टी तो पूरी ही बुरी है। इसमें अच्छा क्या और बुरा क्या? अगर यह एक बार बाहर हो गया तो बाहर हो गया। वस्तुत: अतीत समय का मल है - समय की गंदगी है। यह बीत चुका है - वर्तमान से बाहर हो चुका है। इसकी तुलना हम केवल मल से ही कर सकते हैं। यह हमारे खेत के लिये खाद का काम कर सकता है। हम इसका उपयोग केवल इस रूप में कर सकते हैं कि कल हमने यह किया था जो ठीक नहीं था ताकि फिर से हम इसे दुहरा न सकें। लेकिन जब हम इसके बारे में सोचने लगते हैं कि हे ईश्वर! मैं क्या करूँ? मुझसे बहुत बड़ा अपराध हो गया। मुझे क्षमा करो। तो मैं अतीत में गहरे और गहरे चलता चला जाता हूँ। हमारा पाप भी और गहरा होता जाता है। इसीलिये आध्यात्मिकता बताती है कि अतीत के बारे में सोचना ही पाप है।

धन्यवाद !

V

ओज़राँ, फ्राँस

जुलाई १३, १९९१

जुलाई १३, १९९१

धर्म पर अपनी चर्चा को आगे बढ़ाते हुये आज हम इस बात पर विचार करेंगे कि हमें धर्म के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। मुझे यह नहीं पता कि हम धर्म के लिये कुछ कर सकते हैं या हमें धर्म के लिये कुछ करना चाहिये लेकिन मुझे यह देख कर दु:ख होता है कि लोग जिस धर्म से निकल कर बाहर आते हैं उसी धर्म की निन्दा करते हैं। धर्म बुराई करने योग्य वस्तु तो नहीं है। बुराई करना ठीक उसी तरह की बात है जैसे हम यह कहें कि एटम नहीं होगा तो एटमबम भी नहीं होगा। अब एटम तो प्रकृति बनाती है लेकिन एटमबम आदमी बनाता है। अब हमें किसकी निन्दा करनी चाहिये - एटम की, एटमबम की या उस आदमी की जिसने एटमबम बनाया। निश्चय ही हमें आदमी की ही निन्दा करनी चाहिये। अब प्रकृति ने तो अपने उद्देश्यों के लिये जहर भी बनाया। लेकिन जो मेरे लिये जहर है वही साँप के अस्तित्व के लिये जरूरी है। उसे अपने जीवन की रक्षा करने के लिये किसी न किसी जीव की हत्या करनी पड़ती है।

दूसरी चीजों की तरह धर्म का विकास भी समय की जरूरत के मुताबिक हुआ। आदिम धर्म इसलिये आदिम था चूँकि वह आदिम लोगों के लिये उपयोगी था। हमारे लिये वे आदिम हैं लेकिन उनके लिये वे सामयिक थे। अगर हम २०,००० या ३०,००० साल पीछे जाकर आदिम तरीके से पूजा करने वालों के साथ हो पाते तो उन्हें आदिम नहीं कहते। तब वह पूजा ही आधुनिक होती।

हमें हमेशा यह बात याद रखनी चाहिये कि मानव के अस्तित्व में आने के लम्बे समय के बाद धर्म एक संगठित संस्था के रूप में हमारे सामने आया। बाबूजी महाराज ने हमें बताया कि हिन्दू धर्म की शुरुआत वेदों से नहीं हुई। वेदों से पहले भी कुछ जरूर था जिसे लिखा नहीं जा सका, जिसे बोला भी नहीं जा सका। लेकिन ईश्वर तो हमेशा रहा है। जब से मनुष्य अस्तित्व में आया, उसमें दिव्यता का कुछ विचार अवश्य रहा है। भले ही वह अस्पष्ट हो, अपरिपक्व हो फिर भी वह विचार तो था ही। अब माता पिता का विचार भी तो बच्चों के उम्र के साथ बदलता रहता है। ३ साल के बच्चे के लिये पिता का जो व्यवहार होता

है वही एक किशोर के लिये नहीं होता या ६० साल के व्यक्ति के लिये नहीं होता। पुत्र वही है, पिता भी वही है लेकिन संबंध बदलता रहता है। हमारी चाहना भी बदलती रहती है। पुत्र अपने पिता से ३ साल की उम्र में जिस चीज की चाहत रखता है ६० साल की उम्र में भी उसी चीज की चाहत नहीं रखता। इसीलिये मेरा मानना है कि धर्म का विकास भी समय की जरूरतों को ध्यान में रख कर हुआ। यह सत्य है और तर्कसंगत भी है। हम वही पा सकते हैं जिसकी हमें तलाश है। इसीलिये हमें इस बात की शिक्षा की भी जरूरत होती है कि हमें क्या पाने की चाहत रखनी चाहिये। बाइबिल कहती है: प्रयास करो और तुम अवश्य पाओगे। मेरी समझ में इस कथन में यही भाव छिपा है कि हम अपने प्रयासों के अनुरूप ही पाते हैं, उससे ज्यादा नहीं।

अगर हम चर्च में शान्ति की तलाश करते हैं तो हमें वहाँ शान्ति मिलती है। अगर हम वहाँ अच्छा चर्च संगीत सुनना चाहते हैं तो हमें वहाँ अच्छा चर्च संगीत सुनने को मिलता है। आप धब्बेदार शीशे की खिड़कियाँ चाहेंगे तो वहाँ वह भी मिलेगा, पाप को स्वीकार करना चाहेंगे तो वह भी हो जायेगा। और अगर आप ईश्वर को वहाँ ढूँढ़ना चाहेंगे तो निश्चय ही ईश्वर भी वहाँ मिलेगा। वस्तुत: बाइबिल का यह कथन कि प्रयास करो और तुम अवश्य पाओगे - निर्विवाद कथन है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि आप जो चाहेंगे वही पायेंगे। अगर आप भोलन करने में आनन्द की खोज कर रहे हैं तो निश्चय ही आपको भोजन में यह आनन्द मिलेगा। अब यह अलग बात है कि इसके बाद आपको दर्द भी भोगना पड़े। अगर आप स्वास्थ्यकर भोजन चाहते हैं तो उचित भोजन पाने का प्रयास करेंगे। अगर आपको विकास की चाहत है तो आप विकसित होने की कोशिश करेंगे। अगर आप सेहत चाहते हैं तो आप उसे पाने की कोशिश करेंगे।

अब यह एक बहुत बड़ा सच है और अध्यात्म बहुत स्पष्ट रूप से यह कहता भी है कि आप कोई भी ऐसी चीज नहीं पायेंगे जिसे पाने की कोशिश आप नहीं कर रहे हों। इसे यों भी कह सकते हैं कि आप वही चीज पाते हैं जिसे पाने की कोशिश आप करते हैं। अगर किसी परिस्थिति में आप आनन्द लेना चाहते हैं तो निश्चित रूप से उस परिस्थिति में आपको आनन्द की प्राप्ति होगी। और अगर उसी परिस्थिति में आप दर्द की अनुभूति करना चाहते हों तो निश्चित रूप से आपको वह भी वहाँ मिलेगा। दरअसल में दर्द और आनन्द दोनो एक

ही चीज के दो हिस्से हैं। बढ़िया पीजा मिले तो खाने में आनन्द आता है लेकिन बाद में बदहजमी हो जाने पर दर्द भी भोगना पड़ता है। अब अगर कोई विवेकशील प्राणी है तो वह कहेगा: पहले आनन्द तो जरूर है लेकिन बाद में कष्ट भी तो होता है इसलिये मुझे आनन्द से बचना है ताकि मैं उस कष्ट से भी बच सकूँ। लेकिन जो आदमी विवेकशील नहीं है वह कहेगा: पंहले आनन्द ले लेने दो फिर बाद में देखा जायेगा। आखिर डॉक्टर है, दवाईयाँ हैं और कल फिर हम चाहें तो पीजा खाकर आनन्द की प्राप्ति भी तो कर सकते हैं। ये वही लोग हैं जो कार्य और कारण, आनन्द और तकलीफ के इस चक्र में निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं। इसीलिये बाइबिल जब कहती है: कोशिश करके पा सकते हो। तो हमें यहाँ यह समझने की जरूरत है कि हम कोशिश ठीक से करें जिससे हम वह पा सकें जो हमें पाना चाहिये, जो हमारे लिये अच्छा हो और हमारा विकास करने में सक्षम हो।

अब अगर हम धर्म को कष्टों के लिये देखें तो यह वहाँ बहुतायत में मिलता है। ईसामसीह को सारी जिन्दगी दर्द सहना पड़ा। अंत में उन्हें सूली पर लटकाया गया – चरम दर्द! अपने १२ शिष्यों में से एक के विश्वासघात का चरम दर्द! खुद की यहूदी जाति के लोगों द्वारा दिया गया चरम दर्द! रोमन लोगों के विश्वासघात का चरम दर्द जो अपने न्यायप्रियता के लिये विख्यात हैं। अगर हम गौर करें तो पाते हैं कि ईसामसीह का जीवन दु:ख और तकलीफों से भरा हुआ था। इसलिये जब भी हम ईसामसीह के बारे में सोचते हैं तो कहते हैं: यह कैसा उदाहरण है? क्या ये चाहते हैं कि मुझे भी तकलीफें हों, मुझे भी धोखा दिया जाये या मुझे भी सूली पर चढ़ाया जाये? हाँ, आप अगर वह सब कुछ पाना चाहते हैं जो ईसामसीह ने पाया था तो आपको यह सब भोगना पड़ेगा। ईसामसीह को ईश्वर की प्राप्ति हुई, उन्होंने मानव की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने अपने जीवन का स्तर इतना ऊँचा उठा लिया था कि उन्हें इस बात का कोई गम नहीं था उन्हें किस तरह की तकलीफ दी जा रही है। उन्होंने समझा कि एक सामान्य स्तर का आदमी इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता है? उन्होंने दु:खों और तकलीफों को उसी तरह भोगा जैसे कोई महिला किसी बच्चे का प्रसव करते समय भोगती है।

मैंने यह पहले भी कहा है और आज फिर कह रहा हूँ कि सारे रचनात्मक कार्यों का मूल आधार दर्द में होता है। दर्द से बचने की

कोशिश करने वाला कभी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता। किसी भी रचना में हाँथ नहीं बँटा सकता। संपूर्ण रचना का आधार तकलीफ, तिरस्कार और दर्द होता है। इसलिये बिना इसको प्राप्त किये आप रचना का आनन्द नहीं पा सकते। ईसामसीह तिरस्कार, तकलीफ और विश्वासघात के दर्द को झेलने में इसलिये समर्थ हो पाये क्योंकि वे सारी मानवता को प्रेम करने में समर्थ हो गये थे। इसीलिये उनका जीवन हमें इस बात की शिक्षा देता है कि प्रेम हमें सब कुछ सहने लायक बनाता है। जब तक हममें प्रेम नहीं होता हम खुद के बारे में सोचते हैं लेकिन जब हममें प्रेम विकसित हो जाता है हम दूसरों के बारे में सोचना शुरु कर देते हैं। इस पर गौर करने पर हम पाते हैं कि प्रेम हमें बहिर्मुखी बनाता है जबकि प्रेम की अनुपस्थिति हमें आत्मकेन्द्रित और स्वार्थी बनाती है।

मैं समझता हूँ कि इस विषय पर इससे अधिक कहने की जरूरत नहीं है। प्रेम का अभाव ही स्वार्थपरता है - खुद से भी प्रेम का अभाव। चूँकि यह तो तय है कि हम खुद को प्रेम किये बिना दूसरों को प्रेम कर ही नहीं सकते। जबकि घृणा इतनी सूक्ष्म है कि यह हमारा विनाश कर देती है - खुद का विनाश। यह हमें आत्महत्या के प्रयास से लेकर मृत्यु तक ले जाती है। इसके कारण से हम नशीली दवाओं का सेवन कर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। प्रेम की जगह हम घृणा ही करते रहते हैं। मेरे मत में तो स्वार्थपरता अपने आप से घृणा करने का ही दूसरा नाम है और मैं इस बात से आश्वस्त हूँ कि मेरा यह आकलन बिल्कुल सही है। प्यार करने का मतलब है कि हम स्वयं को भी प्यार करें और जब हम खुद को प्यार करते हैं तो खुद के प्रति कोई भी पागलपन का कार्य नहीं करते। हम स्वयं को नष्ट करने का कोई प्रयास नहीं करते। फिर प्रश्न आता है कि हम खुद के अस्तित्व की सच्चाई को कैसे पहचानें?

हम कैसे जानें कि हम यहाँ क्यों हैं? हमें कहाँ जाना है? यह तो हम जानते ही हैं कि वह कहाँ जा रहा है? मुझे यह जानने की जरूरत है कि मैं कहाँ जा रहा हूँ? किसलिये जा रहा हूँ? यह पूछना कि आप कहाँ जा रहे हैं - मूर्खता है। ईश्वर कहीं नहीं जाता। वह कहीं से नहीं आता। वह तो हमेशा हर जगह है। उसे कहीं आने-जाने की जरूरत ही क्या है? इसलिये हमें खुद का नाम आगे रखकर पूछना है कि मैं कहाँ जा रहा हूँ? तभी काम बनेगा।

अब अगर हम धर्म का प्रयोग करते हैं तो हमें चाहिये कि हम यह जानें कि इसका विवेकपूर्ण और उचित प्रयोग कैसे किया जाये? लेकिन अगर यह स्थिर है तो हमें यह समझ लेना चाहिये कि यह जिस समय की जरूरत को पूरा करने के लिये बनाया गया था वैसा ही समय आने पर, वैसी ही परिस्थिति आने पर हम इसका प्रयोग कर सकते हैं। धर्म के बारे में यह सत्य हमेशा लागू होता है। २००० साल पहले के लोगों की जरूरतों के हिसाब से बनायी गयी कोई चीज आज के आदमी के लिये उपयोगी नहीं हो सकती। अब जिस आदमी की मृत्यु २००० साल पहले हो गयी हो उसके शरीर का उपयोग आप आज की तारीख में कैसे कर सकते हैं? जो ब्रेड २००० साल पहले सेंकी गयी हो क्या आज आप उसे खा सकते हैं? हमें यह समझना चाहिये कि जिस तरह फसलें आज की मिट्टी में पैदा होती हैं, आज की मिट्टी में बढ़ती हैं, हमें भी आज की मिट्टी में ही जीना और बढ़ना होगा क्योंकि हमने आज की मिट्टी में जन्म लिया है। इसलिये अगर धर्म समय की जरूरत के हिसाब से अपने को बदल नहीं सकता, दिव्यता की ओर बढ़ने के अपने तरीके में सुधार नहीं कर सकता, अभ्यास को संभव बनाने वाली पद्धति हमें नहीं दे सकता, हमारी आज की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकता तो उेस पीछे छोड़ देने की जरूरत है।

इससे स्पष्ट है कि धर्म गलत नहीं है। गलत तो हम हैं जो अतीत के धर्मों से आज भी चिपके हुये हैं। हमें यह समझना चाहिये कि जो कमीज हमने ३ साल की उम्र में पहनी थी उसे मैं आज नहीं पहन सकता। इसका यह मतलब नहीं कि इसमें कमीज का कोई दोष है। जब मैं ३ साल का था निश्चय ही मेरे लिये यह सर्वोत्तम थी। जब मैं १० साल का हुआ, १६ साल का हुआ तो मेरे कपड़े अलग-अलग प्रकार के थे लेकिन आज मेरे लिये इनमें से किसी का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि आज की तारीख में वे मुझमें फिट नहीं बैठते। ऐसा नहीं है कि वे अच्छे नहीं हैं - वे अच्छे हो सकते हैं - आज भी वही रेशम, वही चमड़ों का जूता लेकिन परेशानी यह है कि वे फिट नहीं होते। फिर क्या मेरे अतीत का धर्म मेरे लिये उपयोगी हो सकता है। अगर यह उपयोगी है तो निश्चय ही आपको चाहिये कि आप उसे चलाते रहें। लेकिन अगर यह उपयोगी नहीं है तो इसका उपयोग बंद कर दीजिये। धर्म के बारे में यही सत्य है। हमें धर्म के विरूद्ध नहीं बोलना चाहिये।

उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। वे इस अर्थ में पवित्र हैं कि आने समय में उनके विचार और प्रयास पवित्रता और ईश्वर से संबंधित थे।

उस समय के लोग अनभिज्ञ थे। अब भारत में शक्ति के लिये लोग हनुमान की पूजा करते हैं, हाथी रूपी देवात गणेश की भी पूजा करते हैं - ये सब अतीत के अपरिपक्व विचार हैं। अब अफ्रीका में मसाई कबीले के लोग शेर का शिकार कर उसका दिल निकाल कर खाते थे - यह सोचकर कि शेर का दिल खाकर हम भी शेरदिल जायेंगे। क्या यह सम्भव है? कदापि नहीं। अब यह उस समय की अपरिपक्वता है। उनमें विवेक नहीं था या यों कहें कि विवेक का विकास नहीं हुआ था। उनका प्रकृति के साथ संबंध निम्नतम स्तर परं था। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि वे निम्न गुणों से संबंधित थे। इसके विपरीत मैं यह कहना चाहता हूँ कि संबंधों का आधार निम्नतम स्तर पर था। उस समय लोगों को बाघ, शेर, आधा आदमी और आधा जानवर - इसी प्रकार के वन्य जीवों के साथ रहना था इसलिये उनका दृष्टिकोण इसी तरह का विकसित हुआ। तब तक दार्शनिकता की क्षमता विकसित नहीं हो पायी थी। हम निराकार के बारे में सोचने में असमर्थ थे। हम पाँच या दस से ज्यादा जोड़ पाने में समर्थ नहीं थे। इसलिये उस समय की जरूरत और अपनी क्षमता के हिसाब से उन्होंने उस समय के धर्म का विकास किया। बाद के समय में लोगों ने अपने समय, युगों और जरूरतों के हिसाब से चीजों का विकास किया। हमें भी ऐसी चीज का विकास करना चाहिये जो हमारे समय, युग और हमारी जरूरतों के हिसाब से हो। इस पर गौर करने पर हम पाते हैं कि अध्यात्म आज की हमारी जरूरत है।

अब हम बैठ कर केवल यह सोचते रहें कि ईसाई धर्म व्यर्थ है या हिन्दू धर्म का आचरण मूर्खतापूर्ण है - इसका कोई मतलब नहीं है। उस समय उस चीज का उपयोग था। हर चीज अपने समय और अपनी परिस्थिति में उपयोगी होती है। लेकिन संसार की समस्त संपदाओं में मुझे तो उस चीज का उपयोग ही करना होता है जो हमारे लिये उपयोगी होती है। इसी में हमारी बुद्धिमता निहित होती है। केवल यह घोषणा करने से कि हम उन्नत, बौद्धिक और शिक्षित मानव हैं और आज हम ऐसे समाज में रह रहे हैं जिसमें छोटा से छोटा बच्चा भी कम्प्यूटर का प्रयोग करना जानता है, हमारा काम नहीं चलेगा। जब तक हम अतीत के बारे में, अँधकार के बारे में अंधविश्वासों से पूर्ण हैं,

मृत्यु से डरे हुये हैं - केवल यही कहा जा सकता है कि आज भी हम अंधविश्वासी है - इससे ज्यादा कुछ नहीं।

हमारी सारी शिक्षा, हमारी सभ्यता, हमारा उच्च तकनीकी समाज केवल सतही है। हमें चाहिये कि हम अपने इस आधुनिक प्रौद्योगिकी सतही ज्ञान और विवेक को बदल कर अपने अंदर यह सत्य स्थापित करें कि हमें ध्यान क्यों करना है। आज हम ३०००, ५००० या १०,००० साल पहले की तुलना में ज्यादा चेतनायुक्त और ज्यादा विकसित मन से ध्यान कर सकते हैं। आज इस चेतना का विस्तार होने से ईश्वर के बारे में भी हमारे विचारों में विकास हुआ है। आज ईश्वर का कार्य केवल उपहार बाँटना या हमें हमारे अपराधों के लिये क्षमा करना ही नहीं रह गया है। आज यह केवल हमारी बाधाओं को ही नहीं दूर करता बल्कि हमारे अस्तित्व के अंतिम श्रेयस की प्राप्ति भी हमें कराता है और हमें खुद तक पहुँचाता है। इसलिये आज हमारे लिये जरूरी है कि हम ध्यान करें।

अध्यात्म विशेषकर सहजमार्ग कहता है: अपनी प्रार्थनाओं में माँगो मत। बाबूजी महाराज ने कहा: प्रार्थना तो भीख माँगना है। फिर भी हमारा भीख माँगना जारी है। जब भी हम किसी चीज की माँग करते हैं, हम भिखारी होते हैं। इसके अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं? यह ठीक है कि हम बुद्धिमान भिखारी, व्यावसायिक भिखारी, सुंदर भिखारी या उन्नत भिखारी हैं लेकिन हैं तो भिखारी ही। भिखारी होने के साथ हम चाहे और कुछ भी हो जायें हैं तो हम भिखारी ही। अध्यात्म कहता है: ईश्वर से आपका संबंध प्रेम का होना चाहिये भय का नहीं और जब भी हम माँगते हैं तो प्रेम को अस्वीकार करते हैं। प्रेमी कभी भीख नहीं माँगता। क्या आपका बच्चा आपसे कभी भीख माँगता है? क्या वह कभी अपने घुटनों के बल बैठ कर यह कहता है कि मेरी प्यारी माँ! कृपा करके मुझे खाना दे दो। मैंने बहुत सा पाप किया है। मैंने नियमों के विरूद्ध काम किया है। मैंने तुम्हारे आदेशों की अवहेलना की है। मुझे मेरी इन गलतियों के लिये क्षमा कर दो और मेरा दिव्य भोजन मुझे देने की कृपा करो। मेरी माँ! इसे थोड़ा और स्वादिष्ट बना दो। इसमें थोड़ी सी आइसक्रीम भी मिला दो। हम माँ से इसलिये ऐसा नहीं कहते क्योंकि हम जानते हैं कि यह मेरी माँ है। वह जो भी खाना बनाती है उस पर जन्म से ही हमारा अधिकार है।

अब जन्म से अधिकार का क्या मतलब है - यही कि जन्म लेते ही यह हमारा अधिकार हो गया। जन्म से अधिकार होने से ही वह मेरी माँ है। जन्म आधारित अधिकार से माँ की हर चीज पर मेरा अधिकार है। मुझे उससे माँगना नहीं है। मुझे उससे पूछना भी नहीं है। मुझे यह अधिकार है कि मैं अपने जरूरत की चीजों को खुद ही ले लूँ। अब चूँकि हम सबका जन्म उस अंतिम स्रोत से हुआ है, जन्म से ही हमारा उस पर अधिकार है। ईश्वर पर भी जन्म से ही हमारा अधिकार है। इस सत्य से कौन इन्कार कर सकता है? अगर वह जन्म से अधिकार द्वारा मेरे माता पिता हैं तो फिर उनसे क्या माँगना? चुराने की कोशिश क्यों करना? क्यों नहीं हम यह समझते कि एक पुत्र की तरह जाकर हमें केवल उसे ले लेना है। बाबूजी महाराज कहा करते थे: मुझे लूट लो। अगर आप अपने पिता से जेब खर्च माँगेंगे तो वे क्या करेंगे - आपको १० फ्रैंक दे देंगे। इसलिये मेरा मत यह है कि माँगो मत। केवल उन्हें बता दो कि पिताजी मुझे इस चीज की जरूरत है इसलिये मैं इतने पैसे ले रहा हूँ। आपका केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि मैं ले रहा हूँ। वे मुस्कुरा कर कहेंगे: यह शरारती बहुत बुद्धिमान बनने की कोशिश कर रहा है। अब आप भी इस पर आपत्ति नहीं करते।

अगर मैं इस बात से इन्कार कर रहा हूँ कि ईश्वर की संपूर्ण उपस्थिति मेरे चारो ओर है और हमेशा मेरे साथ है तो स्पष्ट रूप से मैं अपने जन्म के अधिकार को अस्वीकार कर रहा हूँ या यों कहें कि मैं अपने जन्म को ही अस्वीकार कर रहा हूँ। मैं खुद को आध्यात्मिक रूप से अनाथ बना रहा हूँ और अपने स्रोत से खुद ही अलग हो रहा हूँ। अगर हमें यह पता नहीं कि मेरा घर कहाँ है? मेरे माता-पिता कौन हैं? तो मैं अनाथ ही तो हूँ। इसीलिये हम अपने को एकाकी और बहिष्कृत महसूस करते हैं, तकलीफ झेलते हैं और डरे हुये रहते हैं। यहाँ हमें यह समझना चाहिये कि धर्म जिस संपर्क को जोड़ने की बात करता है वह तो हमारा चिरस्थायी संपर्क है। उसे फिर से प्राप्त करने या उससे फिर से संबंध जोड़ने की बात हमें नहीं करनी। हमें केवल इस बात का अहसास करना है कि यह है। इसीलिये धर्म में हम पुनर्प्राप्ति और उद्धार पाने की प्रार्थना करते हैं जबकि अध्यात्म हमें केवल इस बात का अहसास करने की सलाह देता है कि मैं हमेशा से उसके साथ रहा हूँ और अभी भी वह हमारे साथ है। दरअसल मुझमें उसकी उपस्थिति के बिना मैं जीवित ही नहीं रह सकता।

जुलाई 13, 1991

जिस तरह हमारा अस्तित्व समय में है उसी तरह किसी भी ऐसी वस्तु का जिसका अस्तित्व हम स्वीकार करते हैं समय में होना आवश्यक है। भले ही सेकेण्ड के करोड़वें हिस्से में क्यों न हो लेकिन अगर किसी वस्तु का अस्तित्व है तो उसका अस्तित्व समय में जरूर होगा। इसी तरह हर चीज का अस्तित्व उसमें जरूर होना चाहिये। चूँकि वह समय है। भगवद्गीतां में श्रीकृष्ण कहते हैं: मैं समय हूँ - अपरिवर्तनीय, अनंत, अविनाशी और शाश्वत समय! जब समय स्वयं उसके अस्तित्व का एक हिस्सा बन जाता है। अध्यात्म हमें समय पर पर अधिकार प्रदान करता है - हमें शाश्वतता प्रदान करता है। समय पर अधिकार का मतलब यह होता है कि हम अपने समय के स्वामी खुद हो जाते हैं - भूत, वर्तमान और भविष्य पर हमारा अधिकार हो जाता है। अब हमारा अस्तित्व न तो वर्तमान में होता है, न भूत में और न ही भविष्य में। उसी तरह जैसे हम कहते हैं कि यह महल हमारा है लेकिन यह कोई जरूरी नहीं होता कि हम महल में हों हम टेन्ट में रहते हैं। हम कहीं भी बिना इस शरीर के बोध के हो सकते हैं - किसी भी समय में और कहीं भी - किसी भी रूप में। अध्यात्म हमारे स्व के अनुभव को शाश्वतता प्रदान करता है। मतलब यह कि हमारे इस अस्तित्व के बोध के कारण पैदा हुये सारे बंधन समाप्त हो जाते हैं।

अब यह बंधन क्या है? हमारा मैं ही बंधन है। यह अहसास दिलाता है कि मैं शरीर में कैद हूँ। बंधन हमें यह अहसास दिलाता है कि हम समय के किसी अंतराल में पैदा हुये और समय के किसी अंतराल में मरते हैं। दूरी और समय के ये सारे अहसास हमें एक सीमित चेतना में कैद कर देते हैं। हम खुद अपनी चेतना में कैद हो गये हैं। हमें इस लघु स्व की चेतना को समाप्त करना होता है ताकि वास्तविक अनन्त स्व प्रकट हो सके। यह वैसे ही है जैसे यह लघु स्व उस महत स्व को रोक रहा हो। आप सूर्य को एक सिक्के से रोक सकते हैं। यह जरूरी नहीं है कि आप सूर्य को रोकने के लिये सूर्य के आकार की वस्तु की खोज करें। आप चाहें तो इसके विरूद्ध केवल अपना अँगूठा उठाकर इसे रोक सकते हैं। यह छोटा बुद्धिरहित अँगूठा महान सूर्य को रोक सकता है। तो क्या यह बुद्धिरहित छोटा अँगूठा ज्यादा महान है? क्या आप चारो ओर यह कहते हुये घूमेंगे कि मेरा अँगूठा बहुत महान है। मैं इससे सूर्य को रोक सकता हूँ।

ठीक इसी तरह हम अपने लघु, मूर्ख और निम्न स्व द्वारा दिव्यता को रोक रहे हैं और कह रहे हैं: मुझे ईश्वर की जरूरत नहीं है। मैं महान हूँ। मैं पाश्चात्य जाति का हूँ और इसलिये विकसित भी हूँ। वस्तुत: यह असीम ज्ञान, असीम स्वास्थ्य हमारे लिये विनाशकारी शक्तियाँ हैं। ये ऐसे बम हैं जो आज ही सारी दुनियाँ को नष्ट कर सकते हैं। शायद इनके माध्यम से अगले दस सालों में हम सारी दुनियाँ को दो या चार या पंद्रह हिस्सों में तोड़ सकेंगे। लेकिन अगर यह टूट जाये तो हम सबकी मृत्यु हो जायेगी। इससे सिद्ध होता है कि हमारी सारी प्रतिष्ठा विनाश करने में है - सृजन करने में नहीं। लेकिन ईसामसीह ने कहा: मैं परिपूर्ण करने आया हूँ - विनष्ट करने नहीं। आधुनिक ईसाविरोधी को इसके प्रत्युत्तर में कहना चाहिये कि मैं परिपूर्ण करने नहीं बल्कि विनष्ट करने आया हूँ। आज विनाश पश्चिम का धर्म बन गया है। किसका विनाश? अपने उच्चतर स्व का। आज हम अपने निम्नतर स्व को बढ़ावा देते हैं। हमारा सारा जोर केवल इसको बढ़ाने पर होता है, इसे संतुष्ट करने पर होता है, इसे पूरा करने पर होता है, इसे आनन्द देने पर होता है। यह पूरी तरह से स्वार्थपरता है। इसे आप संपूर्ण आत्ममग्नता भी कह सकते हैं। पूर्ण आत्मकेन्द्रितता! आज खुद के अलावा हम और कुछ सोचने के लिये तैयार ही नहीं हैं। आज एक लाख लोग मर गये तो क्या हुआ? वे मूर्ख हैं, अशिक्षित हैं, पागल हैं, काले हैं। उन्हें मरने दो। जब तक मैं जीवित हूँ, मेरा घर सुरक्षित है, जब तक ठंढ और गर्म से मेरी सुरक्षा हो रही है, मेरा रसोई घर अन्न से भरा है, गैस के रूप में ईंधन की प्रचुरता है, टेलिफोन द्वारा दुनियाँ में कहीं भी डायल करके बात करने की सुविधा है। मुझे दुनियाँ में कुछ होने या न होने से क्या फर्क पड़ता है? हम यह भूल जाते हैं कि अगर ८५% मानव जाति नष्ट होती है तो संपर्क रखने के लिये हमारे पास कोई नहीं बचेगा।

पेड़, उसके फूल, उसकी पत्तियों की सुंदरता, मिट्टी में दबे हुये उसके जड़ों में होती है। मान लीजिये कि कोई पेड़ कहे: मेरी इन असुंदर जड़ों को काट दो - ये इधर-उधर बिखरी हुई ठीक नहीं लगतीं, ये गंदी मिट्टी और कीचड़ से अपना पोषण करती हैं। मैं सुंदर हूँ इसलिये मैं नहीं चाहती कि मेरा जड़ असुंदर दिखे, वहाँ किसी प्रकार की कोई गंदगी दिखे। अगर उसकी बात सुनकर उसकी जड़ें काट दी जायें तो क्या होगा? इसी तरह हमारे अस्तित्व की जड़ें संपूर्ण मानवता

में हैं। हमारी समृद्धि की जड़ें संपूर्ण दुनियाँ में हैं। हमारे होने की जड़ें सारे ग्रह पर फैली हुई हैं। अगर कहीं हमारी मुक्ति का अस्तित्व है तो यह इस मानव स्रोत में है - उस संपूर्ण मानव स्रोत में जिसे पाश्चात्य या पूर्वी कहकर बाँटा नहीं जा सकता। मैं तो मानवता का एक हिस्सा हूँ - एक मानव हूँ जो संपूर्ण मानव जाति से जीवन प्राप्त कर रहा है और उस सुंदरता, प्रेम, दया और कृपा की महान समृद्धि से विकसित होकर दिव्य बन रहा है। अगर मैं खुद को इससे अलग करता हूँ तो मेरा स्व दो हिस्सों में बँट जाता है।

इसीलिये अध्यात्म किसी चीज़ में कोई भेद नहीं करता। सहजमार्ग एक ऐसी अद्‌भुत पद्धति है जिसमें जाति, वंश, रंग, लिंग - किसी चीज का कोई भेद नहीं है लेकिन हमें यह कहने का हक तभी है जब हम खुद इन चीजों के दायरे से बाहर आकर अभ्यास करें। तभी हम एक हो सकेंगे। यह तो ठीक है कि यहाँ हम सब एक से दिखते हैं लेकिन क्या बाहर भी हम इसे बनाये रखते हैं? अगर आपको सड़क पर कोई काला कोढ़ी भिखारी दिखे तो क्या आप उस पर कृपा करेंगे? क्या आप उसे १०० फ्रैंक देकर यह कहेंगे कि बन्धु! जाकर एक पीजा खा लो। या आप कहेंगे: गंदा! बदमाश! मेरी आँखों से दूर हो जा। आप क्या करेंगे - इसी में आपके विश्वास की परीक्षा है। यह खुद के प्रति आपकी सत्यनिष्ठा की परीक्षा है। यह सहजमार्ग की भी परीक्षा है।

इसलिये इस बात को ठीक से समझ लीजिये कि इसका अभ्यास केवल यहाँ करना ही काफी नहीं है। दुनियाँ में भी इसका अभ्यास करना जरूरी है। इसके बारे में दुनियाँ को बताइये और देखिये कि दूसरे व्यक्तियों में भी इस दृष्टि से बदलाव हो रहा है या नहीं। याद रखिये! एक पेड़ एक हजार बीज दे सकता है। ये हजार बीज एक हजार पेड़ दे सकते हैं और ये एक हजार पेड़ पुन: प्रति पेड़ हजार बीज दे सकते हैं। लेकिन फलरहित पेड़ की कोई उपयोगिता नहीं है। इसकी उपयोगिता तो केवल इसे काट कर जलाने में है। अगर आप इस अर्थ में बाँझ हैं कि आप उसे पैदा नहीं कर सकते जिससे आप स्वयं विकसित हुये हैं तो आप खुद के लिये एक असत्य हैं। आप जीवित असत्य हैं। आप नियति के साथ छल कर रहे हैं। आपको तो चाहिये कि यहाँ मिलेन वाली वस्तु को आप कई गुना करके मानव जाति को दें। ऐसा न करके आप इसके साथ छल कर रहे हैं।

'आगे बढ़िये और बढ़ाइये' का यह अर्थ कदापि नहीं है कि मजा लो और कई पत्नियों से ढेरों बच्चे पैदा पैदा करो। यह तो मेरे इस कथन की बहुत सामान्य व्याख्या है लेकिन मेरा यह कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि मैंने आपको जो कुछ भी दिया है उससे आप खुद आगे बढ़िये और दूसरों को आगे बढ़ाइये। इसका यह अर्थ नहीं है कि आपको सेक्स की स्वतंत्रता और लाइसेंस दे दी गयी और अब आप कहीं भी और किसी के साथ सोकर संतानोत्पत्ति कर सकते हैं जैसे भारत में सुअर के लिये कहा जाता है। आगे बढ़ो और बढ़ाओ का अर्थ केवल यही है कि जो संपदा आपको दी गयी है - उसे आप आगे बढ़ाइये। आप उस ज्ञान को आगे बढ़ाइये जिसका आशीर्वाद आपको मैंने दिया है। लेन-देन के कानून के अनुसार जिन फायदों को आपने मुझसे प्राप्त किया है उन फायदों को दूसरों तक पहुँचाइये। अगर आप इसे खुद तक ही सीमित रखेंगे तो आप इसे खो देंगे। जो आपने प्राप्त किया है उसे भी आपसे वापस ले लिया जायेगा। यही कानून है। इस पर कोई विवाद नहीं कर सकता। आप सोचते हैं कि आप १३०, १४० कि.मी./घंटा की रफ्तार से कार चला सकते हैं - परिणाम केवल इतना ही होगा कि पुलिस वाले को इसके लिये आपको जुर्माना देना होगा और आपको इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। लेकिन आध्यात्मिक कानून या दिव्य कानून कहता है: जो आपको दिया गया है उसे आपको अपने अंदर बढ़ाना है, दूसरों में बढ़ाना है जिससे वे भी उसे प्राप्त कर सकें और वे भी इसे दूसरों को बाँट सकें। इस प्रकार एक देने वाला चाहे तो लाखों लोगों को उत्पन्न कर सकता है। याद रखिये! अगर लेने देने की यह श्रृंखला टूटती है तो सभ्यता का अंत हो जायेगा।

सभ्यता का विकास सुन्दर कारों, आणविक संयंत्रों, ट्रेनों और हवाई जहाजों से नहीं होता। सभ्यता वहाँ से प्राप्त करने और यहाँ से देने से विकसित होती है। यह बहुत कुछ इसी तरह है जैसे शक्ति संयंत्र होते हैं। ये हमेशा शक्ति देते रहते हैं। इसके ट्रांसफार्मिंग स्टेशन होते हैं जो वोल्टेज को नियन्त्रित करके बाँटते हैं। इसी तरह हमें भी संगठन दिया गया है, बाँटने की सत्ता दी गयी है और ग्रहण करने के इच्छुक लोग दिये गये हैं। अगर हम इस कर्तव्य में असफल होते हैं तो निश्चय ही हम अपने जीवन में भी असफल होते हैं। क्योंकि इस स्थिति में हमने जो भी प्राप्त किया है उसका हमारे लिये भी कोई उपयोग नहीं होता।

पानी को तो हमेशा बहना चाहिये। बहता हुआ पानी ही स्वच्छ होता है। अगर इसमें ठहराव आ गया तो यह बदबू करने लगता है।

यही अध्यात्म का कानून है। अगर हम इसे निष्ठा, साहस और प्रेम से कर सके, चूँकि प्रेम ही वह चीज है जिसके कारण हम दूसरों को वह सब दे पाने में सफल हो पाते हैं जो हमारे पास है, तो हम पायेंगे कि जितना अधिक हम दे पाते हैं उतना ही अधिक हम प्राप्त करने में भी सफल हो पाते हैं। अन्ततः प्रकृति ऐसे व्यक्तित्व का चयन कर लेती है जो बिना किसी प्रतिरोध के, बिना स्व के विचार के, सब कुछ देने में समर्थ होता है। ईश्वर के लिये वह प्रवाह का साधन बन जाता है। यही व्यक्ति वास्तव में संत या मालिक होते हैं। वे नहीं जिनकी मृत्यु के ३०० साल बाद उनको पवित्र घोषित किया जाये। किसी को अतीत से ढूँढ़ कर कैसे संत घोषित किया जा सकता है? मेरा मतलब यह है कि यह तो सत्य की नकल करने जैसा है। अब अगर किसी ऐसे व्यक्ति को जो १७८० तक जीवित था, आज कोई सत्ता संत बनाने का निर्णय कर ले और कहे कि आज से हमारी परम्परा में एक और संत बढ़ गये हैं और अब वर्ष में एक दिन और छुट्टी रहा करेगी तो इसे सत्य की नकल उतारने के अलावा क्या कहा जा सकता है?

अगर कोई बिना कुछ सोचे ही, कि मैं इसे पाने के काबिल भी हूँ या नहीं, कुछ देता है तो फिर मुझे भी किसी को कुछ देते समय यह विचार नहीं करना चाहिये कि वह इसे पाने के काबिल है या नहीं। ईश्वर को सोचने की जरूरत नहीं होती। वह सोच सकता भी नहीं। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है - सब उसी का है। सभी उसके बच्चे हैं - कोई काला है तो कोई गोरा, कोई लम्बा है तो कोई नाटा, कोई दुबला है तो कोई मोटा, कोई मूर्ख है तो कोई बुद्धिमान। अब ईश्वर यह तो नहीं कहता कि यह मूर्ख है - इसे उठाकर दूर फेंक दो। इसे खत्म कर दो। एक बच्चे की चिन्ता तो कम हो। हम भी ऐसा नहीं कहते। कुछ दुर्भाग्यशाली मातायें हैं जिनके बच्चे विकलांग या बौने हैं लेकिन इसका यह मतलब तो नहीं कि हम उन्हें गैस चैम्बर में डाल कर खत्म कर दें - इससे हमारा जीवन सरल हो जायेगा, अच्छा हो जायेगा। दरअसल अस्तित्व का यह रहस्य है कि हम जिसे प्रेम करते हैं उसके लिये कष्ट उठाते हैं और इससे हमारा जीवन ऊँचा उठता है। अब यह कष्ट हमें उन्नत नहीं बनाता - उन्नत तो प्रेम बनाता है। अब अगर हम गौर करें तो पायेंगे कि आनन्द और प्रेम एक साथ नहीं होते लेकिन कष्ट और

प्रेम साथ-साथ होते हैं। अगर कभी भी आनन्द और प्रेम एक साथ दिखें तो हमें इस पर शंका होनी चाहिये।

एक बात और है जब हम पैदा होते हैं, हम इसे खुशी के अवसर के रूप में मनाते हैं लेकिन मृत्यु को हम अपनी दुर्दशा समझते हैं। मृत्यु से हम डरते हैं। पश्चिम के प्रसिद्ध प्रकाशकों और लेखकों की मान्यता भी यही है कि हमें कोई निष्ठुर और अंधा भाग्य जीवन से वंचित कर देता है। अब मेरी यह समझ में नहीं आता कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह कैसे सोच सकता है कि नियति मेरे विरूद्ध है या ईश्वर क्रूर है या निष्ठुर है? वह मेरे साथ ऐसा खेल खेल रहा है जैसा खेल बिल्ली चूहे के साथ खेलती है? मैंने कई लेखकों के लेखों में यह बात पायी है। ईश्वर को ऐसे लोगों पर दया करनी चाहिये। दरअसल हमारी सोच इसलिये ऐसी बन जाती है चूँकि हम समझते हैं कि जब तक हम शरीर में हैं तभी तक हमारा जीवन है। इसीलिये जब हम जन्म लेते हैं हमें खुशी होती है और मृत्यु के समय हम दु:खी हो जाते हैं। जिसे शाश्वतता का या यों कहें कि शाश्वत अस्तित्व का आशीर्वाद प्राप्त हो, वह ऐसा कैसे सोच सकता है? इससे स्पष्ट है कि जन्म और मृत्यु का यह विचार शरीर के प्रति लगाव के कारण ही पैदा होता है और जीवनपर्यन्त हम इस मृत्यु से इसलिये भयभीत रहते हैं चूँकि हमें लगता है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब हमें इस शरीर को छोड़ना पड़ेगा। अब यह कितना हास्यास्पद है कि एक तरफ तो हम मुक्ति चाहते हैं और दूसरी तरफ मृत्यु से इस कदर भयभीत हैं। ये दोनो ही विचार परस्पर विरोधी हैं और जब तक ये दोनो विचार हममें एक साथ रहते हैं, हमारी प्रगति उस तेजी के साथ नहीं हो पाती जिसकी अपेक्षा हमें है।

निरन्तर विकसित हो रहे आध्यात्मिक लोगों ने मृत्यु-भय का यह विचार बहुत पहले ही खो दिया। जब मृत्यु का अस्तित्व ही नहीं है तो फिर उससे डरना क्यों? अगर मैं अपनी कमीज को उतार कर इसे धुलाई के लिये दे देता हूँ तो इसका यह मतलब तो नहीं है कि यह कमीज खत्म हो गयी न ही इसका यह मतलब है कि मैं खत्म हो गया। कमीज भी कहीं है और मैं भी कहीं हूँ। इसी तरह मृत्यु में भी मेरा शरीर कहीं होता है और मैं कहीं और होता हूँ। फिर इसमें परेशान होने की क्या बात है? इसमें डरने की क्या जरूरत है? वस्तुत: मृत्यु से भय का विचार हमें एक सीमा से बाँध देता है। इसका मतलब यह होता है कि हम अपनी मुक्ति से भी डरे हुये हैं। हमें यह बात ठीक से समझ

लेनी चाहिये कि मृत्यु से भय के भाव में मुक्ति से भी भय का भाव छिपा हुआ है। जब तक हम मृत्यु से भयभीत रहेंगे हमारी मुक्ति नहीं हो सकेगी और हम जन्म-मरण के इस चक्र से मुक्त नहीं हो पायेंगे। हमें यह ठीक से समझ लेना है कि जब तक इस मृत्यु-भय से हम नहीं उबरते हम बार-बार मरते रहेंगे।

इसीलिये हमने देखा है कि मनोवैज्ञानिक लोग जिस चीज से हमें डर लगता है बार-बार उसी का सामना करने की सलाह देते हैं जिससे उस चीज के प्रति हमारे मन में जो भय व्याप्त है, वह खत्म हो जाये। अगर हम कुत्ते से डरते हैं तो वे एक कुत्ता हमारे पास लाते हैं और हमसे कहते हैं कि आप इसे गोद में उठाइये, इसे पालिये - आपका डर खत्म हो जायेगा। यहाँ आध्यात्मिकता में भी हम यही सलाह देते हैं। बाबूजी ने बताया: हर ध्यान मृत्यु का प्रशिक्षण है। जब भी ध्यान में हम अपने अंदर गहराई में उतरते हैं और ध्यान की समाप्ति पर उससे बाहर आते हैं, हम कहते हैं मैं पूरी तरह विलीन हो गया था - मुझे पता ही नहीं चला कि मैं कहाँ था - मैं ध्यान कर रहा था या सो रहा था। वाकई ध्यान की गहराई में हम वहाँ नहीं होते। इस अर्थ में देखा जाये तो उतने समय के लिये हम इस अस्तित्व के लिये मृत हो जाते हैं। इस तरह ध्यान मृत्यु का प्रशिक्षण है और अगर हमने इसे ठीक से किया तो हम मृत्यु का मालिक बन जाते हैं, मरने की इस क्रिया पर हमारा पूरा अधिकार हो जाता है। हम जब चाहें तब मर सकते हैं और जब चाहें तब इससे बाहर आ सकते हैं। हमारे लिये अब मृत्यु का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसीलिये हमें यह समझ लेना चाहिये कि यह मृत्यु वास्तव में मृत्यु नहीं है। यह तो वैसे ही है जैसे ईसाई परम्परा में ईसामसीह का पुनर्जीवन। कहा जाता है कि मृत्यु के बाद उन्हें कब्र में दफनाया गया और वहाँ से वे गायब हो गये।

इसलिये अगर अभी भी हम मृत्यु से भयभीत हैं तो इसका मतलब यही है कि हम ठीक से ध्यान नहीं कर रहे हैं। हमारा अभ्यास ठीक से नहीं चल रहा है। इस पर हमें गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिये। हमें खुद से पूछना चाहिये: क्या मैं ध्यान कर रहा हूँ। अगर हाँ, तो क्या मैं इसे ठीक से कर रहा हूँ? आखिर अभी भी मुझे मृत्यु का भय क्यों सताता है? क्या ध्यान रोज मरने का प्रशिक्षण नहीं है? क्या हर रोज उसी काम को करके आदमी उस काम का मालिक नहीं बन जाता। इस लिहाज से क्या मुझे मृत्यु का मालिक नहीं हो जाना चाहिये? इसीलिये कहा जाता है कि जीवन का मालिक मृत्यु का भी मालिक होता है।

बाबूजी ने बताया: वही अकेला जीवन और मृत्यु का मालिक है। जैसे ही हम मृत्यु के भय और जन्म की लालसा - दोनो से स्वतंत्र हो जाते हैं, हम दिव्य हो जाते हैं, इस द्वंद से बाहर हो जाते हैं। उपनिषद् कहते हैं: जो कभी नहीं था, वह कभी होगा भी नहीं। जो आज है, वही कल भी था और वही आगे भी रहेगा। दरअसल इस ब्रह्मण्ड में कुछ भी नया नहीं आ रहा है। जो उसने बनाया है, वही यहाँ है। आत्मा शाश्वत, अनन्त, सर्वोच्च, ईश्वर का अंश या यों कहें कि ईश्वरीय सार है। जब तक ईश्वर का अस्तित्व है इसका भी अस्तित्व समाप्त नहीं हो सकता। ईश्वर का जन्म नहीं हुआ, न ही वह मरता है इसी प्रकार मेरा भी जन्म नहीं हुआ और मैं भी मरता नहीं हूँ। जन्म और मृत्यु की समस्या हमारी खुद की बनायी हुई समस्या है। लोगों को जन्म लेते और मरते देखकर हमने इसे अपने ऊपर लाद लिया है। हम भी यह समझने लगे हैं कि हमारा भी जन्म होता है और हम भी मरते हैं। यह सत्य है कि मेरा शरीर अस्तित्व में आया है और यह समाप्त भी होगा। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हम शाश्वत हैं।

यही अध्यात्म का प्रशिक्षण है। मैं फिर से इस बात को दुहरा दूँ कि अगर हम ठीक से ध्यान करें तो वह स्थिति हमारी प्रतीक्षा करेगी जिसमें हम मृत्यु के मालिक बन सकते हैं। और कोई भी आदमी उस चीज से कैसे डर सकता है जिस चीज का वह खुद ही मालिक हो? वह तो मालिक है। मृत्यु एक उपकरण की तरह उसके आधीन हो जाती है। फिर हम मृत्यु का उपयोग एक निश्चित परिस्थिति से बाहर आने के लिये करते हैं। अगर आत्मा को कुछ काम करना है तो वह फिर से खुद आने का निर्णय ले सकती है। यह जिस वातावरण को साफ करने और इसे नया स्वरूप प्रदान करने के लिये प्रकट हुई है, उससे स्वयं को मुक्त करने के लिये मृत्यु का उपकरण के रूप में प्रयोग करती है। मालिक वास्तव में अपनी इच्छा से इस अस्तित्व में आते हैं। जब वे चाहते हैं, जन्म लेते है और जब चाहते हैं, यहाँ से चले जाते हैं। वे न तो ज़न्म के दास हैं न ही मृत्यु के। वे तो दोनों के मालिक हैं।

धन्यवाद !

VI

ओज़राँ, फ्राँस

जुलाई १४, १९९१

जुलाई १४, १९९१

आज मैं मृत्यु संबंधी अपने विचारों को आगे बढ़ा रहा हूँ। अगर मृत्यु की इस क्रिया को हम आध्यात्मिक संदर्भ में देखें तो हम पाते हैं कि यह प्रकृति का सर्वाधिक सुंदर और महत्वपूर्ण कृत्य है। लेकिन आज हमने अपनी पहचान को इस शरीर और इसके जीवन से जोड़ लिया है और हम मृत्यु के इस मूल आध्यात्मिक भाव को भूल गये हैं। हमने इसे ऐसी चीज बना दी है जिससे हम सारी जिन्दगी डरते रहते हैं। जो लोग ध्यान की गहराई में डूबने में सक्षम हैं वे जानते हैं कि वास्तव में ऐसा कुछ नहीं होता। जब हम आंतरिक स्व की गहराई में जाकर उसमें से वापस आते हैं तो कभी-कभी हमें यह पता नहीं होता कि हम कहाँ हैं, कहाँ रह रहे हैं और कितना समय बीत गया है। अगर हममें इस अवस्था को बनाये रखने की क्षमता है तो हमारे लिये यह सम्भव है कि हम घ्यान के बाद भी इस अवस्था में रह सकें। इससे बाहर आने पर हमें बहुत खुशी महसूस होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि हम आनन्द की ऐसी अवस्था में रह रहे हैं जिसमें पूर्ण शान्ति है। इस अवस्था में किसी चीज का अस्तित्व नहीं होता इसलिये हमारे लिये बहुत मुश्किल होता है कि हम इस अवस्था के बारे में कुछ बता पायें। हम केवल इतना कह पाते हैं कि यह अद्‌भुत थी और हमें अफसोस है कि यह इतनी जल्दी खत्म हो गयी।

अब अगर यही मृत्यु की अवस्था है, मृत्यु की स्थिति है या शरीर छूटने के बाद की अवस्था है तो हमें इससे क्यों डरना चाहिये? ऐसा केवल इसलिये क्योंकि हमने दो विचारों को एक साथ पकड़ रखा है। एक तरफ मृत्यु के बारे में हमारे पारम्परिक विचार हैं - मृत्यु का भय है तो दूसरी तरफ शाश्वतता की यह आध्यात्मिक अवस्था - अविनाशत्व के बोध की अवस्था। हम कभी भी इन दोनो के बीच सामंजस्य बैठाने का कोई प्रयत्न नहीं करते। मुझे नहीं लगता कि इस बारे में हम कभी एक क्षण के लिये भी सोचते हैं। अगर इस शरीर को छोड़ते समय यही घटित होना है या हमें इसी तरह की अवस्था में पहुँचना है तो फिर मैं किस चीज से डरा हुआ हूँ?

अधिकतर मामलों में धर्म हमें यही शिक्षा देता है कि यहाँ के बाद मृत्यु की स्थिति भयावह है। कुछ धर्म तो कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् अंतिम न्यायाधीश हमारे कर्मों के अनुसार हमारा मूल्यांकन करता है और फिर हमें स्वर्ग या नरक में भेजे जाने का निर्णय देता है। उस समय हमें शरीर की जरूरत होती है इसलिये वे मरने के बाद शरीर को दफन करते हैं। अंतिम फैसले के दिन ये सारे शरीर चमत्कारपूर्ण ढंग से कब्रों से निकल आते हैं। अब मुझे यह नहीं मालूम कि फैसले में शरीर की क्या जरूरत होती है? मैं तो समझता हूँ कि कानून में बंदी प्रत्यक्षीकरण की अवधारणा या यों कहें कि शरीर को न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित करने की अवधारणा वहीं से आयी है। अपराध बोध के कारण - यह जानने के कारण कि हम कल क्या करते रहे हैं, क्या सोचते रहे हैं, हम उस नरक की कल्पना से भयभीत रहते हैं। दाँते ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक इनफर्नो में इसे बहुत ही खूबसूरती से प्रस्तुत किया है।

लोग हमेशा से भयावह चीजों के बारे में अद्भुत रूप से और अद्भुत चीजों के बारे में भयावह रूप से लिखने में समर्थ रहे हैं। मेरी समझ में तो पारम्परिक लेखन में अतिशयोक्ति का यह लक्षण इसे निरर्थकता तक ले जाने के लिये उत्तरदायी है। नरक का ऐसा चित्र खींचा गया है जिसमें हमें जलाया जायेगा, हमारे कानों में पिघला हुआ तारकोल और हमारी नाकों में पिघला हुआ शीशा डाला जायेगा, हमारी आँखें निकाल ली जायेंगी। पुराने हिब्रू कानून भी ऐसे ही हैं: आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत। दरअसल हम मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र की दृष्टि से नरक में इतना डूब गये हैं कि हमारे लिये इससे बाहर आना असंभव सा लगता है। नैतिकता की दृष्टि से हम सरलता से इससे छुटकारा पा सकते हैं। हम चर्च को छोड़ दें तो हमें इस बकवास से छुटकारा मिल जाये। लेकिन मनोविज्ञान की दृष्टि से हम पूरी तरह इस भय और लोभ के दास बन गये हैं।

आप सबों को स्मरण होगा कि बाबूजी महाराज ने कहा: धर्म हमेशा दो उपकरणों का प्रयोग करता है - भय और लोभ। हम इन्हीं दोनो के वशीभूत हैं। या तो हम नरक से डरते हैं या स्वर्ग के लोभ में रहते हैं। इसीलिये हमारे जीवन का आधा हिस्सा विलासितापूर्ण बीतता है और परिणाम यह होता है कि जिस नरक से हम डरते हैं अंत में वहीं पहुँचते हैं। जीवन के दूसरे आधे भाग में हम प्रायश्चित की कोशिश करते हैं,

दान देते हैं, मंदिर बनाते हैं, चर्च बनाते हैं, दान में अधिक धन देते हैं और इस तरह अपने पहले के जीवन को नकारने की कोशिश करते हैं या यों कहें कि ईश्वर को धोखा देने की कोशिश करते हैं और उससे कहते हैं: नहीं, नहीं, उसे भूल जाओ। देखो! अब मैं क्या कर रहा हूँ? लेकिन हमें यह जानना चाहिये कि इस तरह की चीज हमें फायदा नहीं पहुँचा सकती क्योंकि हमारे बारे में ऐसा फैसला करने वाला कोई ईश्वर नहीं है। मेरा सोचना है कि ईश्वर के पास करने के लिये इससे बेहतर चीजें हैं। अब ऐसा ईश्वर तो मूर्ख ही होगा जो स्वर्ग में सिंहासन पर बैठकर कोई काम करने के बाद शाश्वत रूप से अपने सामने आने वाली लाखों आत्माओं के बारे में कोई निर्णय देगा। ब्रह्माण्ड के नियन्ता और सृजनकर्ता होने की वजह से निश्चित रूप से उसके पास अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं।

अध्यात्म कहता है: मूर्ख मत बनो। फैसला करने वाले तो तुम ही हो - वास्तविक तुम! तुम्हारे अंदर का स्व, जिससे तुम डरे हुये हो। वस्तुत: तुम खुद अपने स्व से डरे हुये हो। निम्नतर अर्थ में कहा जाये तो हम स्वयं से ही डरे हुये हैं। दरअसल हममें से अधिकांश यह नहीं जानते कि निश्चित परिस्थिति और अवसर मिलने पर हम क्या करेंगे। इसीलिये हम डरे हुये हैं। हम स्व के सम्मुख खुद को जिम्मेदार बनाने से डर रहे हैं। हम मित्रता से भी डरे हुये हैं। परिस्थितियों से भी डरे हुये हैं। भावनाओं, प्रेम, घृणा, मृत्यु - हर चीज से हम भयभीत हैं। किस परिस्थिति में कौन सा भय होगा - यह अनुमान करना हमारे लिये कठिन है इसलिये हमारा जीवन, जो आनन्द और मस्ती से परिपूर्ण होना चाहिये, भय, लालच और तकलीफों से भरा हुआ है। हमें ही चीज में मृत्यु का भय दिखता है। जो मजा लेने में समर्थ नहीं हैं और पाप नहीं करना चाहते, वे सद्‌गुणी हैं इसलिये मजे से दूर रहते हैं, ऐसा नहीं है। वे इसलिये मजे से दूर हैं क्योंकि वे पाप नहीं करना चाहते।

खुद के द्वारा या दूसरों के द्वारा प्रदर्शित मानवीय सद्‌गुणों में अधिकांश इसीलिये नकारात्मक हैं क्योंकि ये हमें नरक से बचाने के लिये सीधे रास्ते पर चलने को कहते हैं। ऐसा भी नहीं है कि हमें स्वर्ग पाने की ललक है। स्वर्ग भला कौन जाना चाहता है? स्वर्ग जाने के लिये भी तो पहले मरना पड़ेगा। अगर आज हमसे कोई स्वर्ग देने का वादा करे तो मुझे नहीं पता कि हममें से कितने लोग अपना हाँथ ऊपर उठायेंगे। वाकई हम मरना नहीं चाहते। न मरने का यह विचार बहुत

ही आश्चर्यजनक है क्योंकि यह हमारे आंतरिक स्व को प्रदर्शित करता है, जो यह कहता है: मूर्ख! मृत्यु जैसी कोई चीज होती ही नहीं। तुम मृत्यु या मृत्यु नहीं - इन दोनो में से एक को कैसे चाह सकते हो? जब मृत्यु जैसी कोई चीज होती ही नहीं तो दोनो के बारे में सोचना पागलपन है। इसीलिये मेरा मत है कि हमें धर्म के सिद्धान्तों पर नहीं बल्कि अपने अनुभवों पर चलना चाहिये।

धर्मों ने हमेशा अपने अनुयायियों को मूर्खतापूर्ण या सोचरहित आज्ञापालन के लिये डराया-धमकाया है। कुछ धर्म तो इस कार्य में इतने दक्ष हैं कि वे स्वयं आपको मरने से रोकने के लिये मार भी सकते हैं। वे आपके हाँथ-पाँव काट देते हैं। आपका सिर काट देते हैं। मैं नहीं जानता कि उन्हें किस ईश्वर ने मार डालने की सत्ता दी है। वस्तुत: धर्म से दूर जाने के हमारे पास कई प्रमुख कारण हैं और ये ही कारण हमें अध्यात्म के पास आने के लिये प्रेरित करते हैं क्योंकि आध्यात्मिकता वह सब चीजों का प्रतिनिधित्व करती है जिनका प्रतिनिधित्व धर्म नहीं करता। दोनो में केवल एक ही चीज समान है और वह है - ईश्वर का विचार।

धर्म ईश्वर के बारे में बताता है कि वह न्यायाधीश है और उसे हमें दण्ड देने का अधिकार है। वह नाराज होकर हमें नरक में भेज सकता है। ईसाई धर्म में भी जहाँ ईसामसीह ने ईश्वर को दया, प्रेम और कृपा के गुणों से विभूषित किया है - ऐसा नहीं लगता कि ईश्वर बदला है क्योंकि यह पुजारियों, सूदखोरों, पशु-पक्षी के व्यापारियों और मूर्ति निर्माताओं का ईश्वर है। मैंने कभी-कभी महसूस किया है कि अगर आज ईसामसीह पृथ्वी पर होते तो उन्हें अपने नाम पर बनाये गये इन चर्चों से सर्वाधिक नफरत होती। उन्हें इस बात से न केवल शर्म महसूस होती बल्कि उन्हें झटका भी लगता। उन्हें इन पूजा के मंदिरों में जाना पड़ता, सूदखोरों का व्यापार रोकना पड़ता, पक्षियों को छुड़ाना पड़ता, मंच तोड़ने पड़ते और उन्हें फिर से वह जीवन शुरु करना पड़ता जिसे उन्होंने २००० साल पहले जिया था और जिसमें वे असफल हो गये थे। हमें यह देखना चाहिये क्योंकि यह उनकी असफलता नहीं है। यह उन लोगों की असफलता है जिन्होंने उनका अनुसरण किया, उनकी शिक्षाओं को दूषित किया, बाइबिल को फिर से लिखे, असली लेख छिपाये और वह सब किया जो निहित स्वार्थों और निहित शक्तियों के अनुकूल था। उनलोगों ने ईसामसीह के विचारों को इस तरह तोड़ा-मरोड़ा, जिनसे तथाकथित चर्च फल-फूल सकें। इसीलिये आज धर्म

नहीं, चर्च फल-फूल रहा है। लेकिन हमें यह जानना चाहिये कि ये दोनो अलग-अलग चीजें हैं।

आध्यात्मिकता की शिक्षायें जब कठोर होकर ठोसता और स्थूलता में परिवर्तित होती हैं तो धर्म का निर्माण होता है। जब यह भी कठोर और स्थूल हो जाता है तो यह चर्च का रूप ले लेता है - धन से भरा हुआ, स्वर्णमंडित मंदिर और चर्च! यह सब धन का भद्दा प्रदर्शन है। लेकिन चर्च, मंदिर और पूजा के विभिन्न संगठन यही करते हैं। हममें जीवन और मृत्यु के प्रति भय पैदा करके वे हमें अपना शिकार बनाते हैं। हम आज जीवन से भी डरे हुये हैं, दर्द से डरे हुये हैं, तकलीफ से डरे हुये हैं, बच्चों के जन्म से डरे हुये हैं कि कहीं बच्चा पैदा होने के बाद मर न जाये। जब बच्चा स्कूल से वापस लौट आता है तो हम डरे हुये रहते हैं कि यह कहीं अपना सिर गैस चैम्बर में न डाल दे। बच्चे के बड़ा होने पर हम इस बात से डरने लगते हैं कि कहीं यह गलत संबंध न बना ले, नशीली दवायें न लेने लगे, धूम्रपान न करे, एड्स से न ग्रस्त हो जाये। आखिर हम कब तक डरेंगे? बच्चे के गर्भ में आते ही माँ डरने लगती है, बच्चे के जन्म से भी उसे डर है और बच्चे के बड़े हो जाने पर भी उसे डर है। वह खुद से भी डरी हुई है। वस्तुतः डर हमारा स्थायी सहचर बन गया है। इसी वजह से हमें निरन्तर चर्च जाना पड़ता है और वहाँ से मार्गदर्शन और सहायता लेनी पड़ती है। और चर्च में वे एक मोमबत्ती के जलने और प्लेट भर धन आने का इन्तजार करते हैं, लैटिन में कुछ प्रार्थनायें बुदबुदाते हैं जिन्हें हम समझ भी नहीं पाते।

ऐसा समझा जाता है कि बाइबिल की मूल भाषा अरेमैक है। बाद में इसका रूपांतर लैटिन में हुआ। फिर यह ग्रीक में आयी। फिर कई भाषाओं में। मैं कभी-कभी सोचता हूँ आखिर ईश्वर कौन सी भाषा समझता है। क्या वह कोई भाषा समझ भी पाता है? क्योंकि आध्यात्मिकता का मानना है कि ईश्वर की भाषा मौन है। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि बोली गयी, बुदबुदायी गयी, चिल्लायी गयी और विलाप की गयी प्रार्थनायें अनुपयोगी, मूर्खतापूर्ण और समय की बरबादी हैं। बाबूजी ने बहुत सुंदरता के साथ कहा: वे अपने शोर से वातावरण को गंदा कर रहे हैं।

इसलिये अगर हम चाहते हैं कि हमारी प्रार्थना उस तक पहुँचे तो हमें भी मौन होना होगा। उसे हम ईश्वर कहें या सर्वोच्च या और कुछ

- उसके साथ सायुज्यता केवल मौन में ही सम्भव है। केवल आंतरिक स्व के मौन में ही ईश्वरीय उपस्थिति सम्भव हो पाती है। अगर हम उसके साथ संपर्क करने में समर्थ होना चाहते हैं तो हमें खुद उस पूर्ण मौन में उतरना होगा। अगर हम मछली पकड़ना चाहते हैं तो हमें पानी में उतरना पड़ेगा या कम से कम हमें पानी में चारा तो फेंकना ही पड़ेगा। जब मछली पानी में है तो चारा को पानी से बाहर लटका कर हम यह नहीं कह सकते कि मैं मछली पकड़ रहा हूँ। हम अगर किसी चीज से संपर्क करना चाहते हैं तो हमें उस माध्यम में या उस आयाम में उतरना पड़ेगा।

प्रेम को पाने के लिये यह जरूरी है कि हम प्रेम के आयाम में उतरें। लेकिन हम इसमें भी अपने दिमाग का इस्तेमाल कर चेहरा, रूप, खाल का रंग, आँखों की सुंदरता, ओठों की लाली देखते हैं। प्रसिद्ध कवि वायरन की रचनायें देखिये तो आपको इस प्रकार का बहुत सारा वर्णन मिलेगा। इसी में हम गिर जाते हैं। यह केवल आँखों और दिमाग में है। इसमें प्रेम कहाँ है? प्रेम के लिये तो हमें उसके आयाम में होना चाहिये। जब हम उस आयाम में होते हैं तो उस आयाम जो भी हमारी तरह का होता है, हमारी ओर आकर्षित होता है। वस्तुत: व्यक्ति व्यक्ति को आकर्षित नहीं करता, आयाम आयाम को आकर्षित करता है। आपके मनन करने के लिये यह बहुत अच्छा विचार है। लोग बाबूजी महाराज के पीछे दौड़े। लोगों ने आखिर उनमें क्या देखा? कोई बता नहीं सकता। यह संभवत: सुंदरता का आश्चर्य था और आश्चर्य की सुंदरता। इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती कि यह क्यों आध्चर्यजनक है? जो सुंदर है लेकिन उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती कि यह क्यों सुंदर है? बस यह है। ऐसा ही ईश्वर के बारे में है कि वह है। उसकी कोई योग्यता निर्धारित नहीं है कि वह सुदृढ़ है, शक्तिशाली है। जिस क्षण हम उसकी योग्यता का निर्धारण करने लगते हैं वह ईश्वर रह ही नहीं जाता।

फिर भी धर्म ईश्वर के बारे में कहता है: वह दयालु है, कृपालु है, उद्धारकर्ता है, दाता है, विधान निर्माता है और भी बहुत सारी बातें। लेकिन जिसकी भी व्याख्या की जा सकती है वह ईश्वर कैसे हो सकता है? जिस चीज के बारे में यह बताया जा सके कि यह यहाँ है, वह ईश्वर नहीं हो सकता। दरअसल ईश्वर को समय और दूरी में नहीं बाँधा जा सकता क्योंकि दूरी और समय तो सांसारिक हैं। ये भी उसी से

निकले हैं। यह तो उसी तरह है जैसे कोई बड़ा बच्चा कहे कि माँ, माँ, मैं कहाँ से आया? फिर कोई बताता है कि तुम अपनी माँ के पेट से आये। लेकिन कैसे? मैं इतना बड़ा हूँ। मैं तुम्हारे पेट में कैसे हो सकता हूँ? वस्तुत: जब हम वहाँ थे, आयाम रहित एक विन्दु थे। गणित कहता है: विन्दु का कोई आयाम नहीं होता। एक अंडे की कोशिका जब संषेचित होती है तो वह आयाम रहित होती है। फिर यह बढ़ती जाती है और अंत में १.९७, १.८७, १.७७ मीटर लम्बा या बौना व्यक्ति पैदा होता है। इस प्रकार हमारी शुरुआत एक विन्दु के रूप में होती है। विन्दु में सामर्थ्य होता है - वह जो चाहे, बन सकता है लेकिन जब सामर्थ्य यथार्थीकृत हो जाती है तो यह केवल वही रह जाता है जो यह बन चुका होता है - इससे ज्यादा कुछ नहीं।

धर्म सामर्थ्य के विनाश के बारे में बोलता है। वह कहता है: तुम एक मनुष्य हो, ईश्वर के प्रतिबिम्ब हो लेकिन नरक में जाओगे। अब देखिये! यह एक उलटी प्रक्रिया है। यह कहता है कि और तुम वहाँ तकलीफ उठाओगे। अगर मैं ईश्वर का प्रतिबिम्ब हूँ तो यह कैसे सम्भव है? अगर ब्रह्माण्ड और लघु ब्रह्माण्ड एक समान हैं तो यह कैसे सम्भव है? आखिर उसमें पाप कैसे हो सकता है? भ्रष्टाचार कैसे हो सकता है? विकृति कैसे हो सकती है? नरक कैसे हो सकता है? जो सब कुछ है, उत्कृष्ट है, सुंदर है, पीड़ा सहने के लिये नरक कैसे जा सकता है? इसलिये ये सारी बातें मूर्खतापूर्ण हैं।

मुझे एक कहानी याद आती है - विज्ञान की एक काल्पनिक कहानी है जो समय में पीछे की ओर जाती है। वास्तव में यह पागलपन है। कहानी कहती है कि देवदूत गैब्रियेल द्वारा बिगुल बजाया जा रहा है। निर्णय का दिन आ गया है। कब्रों से शरीरों के बाहर आने का डरावना दृश्य सामने है। लोग छोटे होते जा रहे हैं और अपनी माँ के गर्भ में वापस जा रहे हैं, गायें मर रही हैं और अपनी कब्रों से उठ रही हैं, अपने पिछले समय में जा रही हैं और यह सब बिना समय लगे होता जा रहा है। क्योंकि अब समय तो है ही नहीं। यह तो समाप्त हो चुका है। इस समय किसी मूल आदम की पहचान करना कठिन है कि कौन प्रथम माँ और प्रथम पिता थे। अतीत में वापसी के बारे में सोचने पर बड़ी ही सुंदरता से इस मौलिक पाप के विचार की अर्थहीनता स्पष्ट हो गयी। इसलिये लोगों को कभी-कभी घटनाक्रम की वापसी के बारे में भी सोचना चाहिये। आपने देखा होगा कि कभी-कभी कार को बाहर लाने के लिये पहले उसे पीछे लाना पड़ता है। हमें विपरीत दिशा में भी

सोचने आना चाहिये। जब मैं नरक से बाहर आऊँगा तो क्या करूँगा? अगर नरक है और अगर ईश्वर मुझे वहाँ भेजे तो क्या मैं कभी भी वहाँ से वापस आ पाऊँगा? अगर मैं बाहर आया तो मैं क्या करूँगा?

एक बार जब मैं हवाई जहाज से मद्रास से मदुरै जा रहा था, एक पादरी से मेरा विवाद हो गया। पता नहीं यह घटना मैंने आपको कभी बतायी है या नहीं। संयोगवश या दुर्योगवश मुझे खिड़की की सीट मिली। उसकी सीट मेरी दाहिनी ओर थी। मैं पातंजलि का योगसूत्र पढ़ रहा था और वह मुझे मेरे कंधों के ऊपर से झाँक कर देख रहा था। मुझे इससे चिढ़ पैदा हो रही थी। वह कैथोलिक चर्च की सफेद ड्रेस - हैबिट पहने हुये था। मैं उससे ठीक से बैठने के लिये नहीं कह पा रहा था क्योंकि मैं भी क्रिश्चियन स्कूल में पढ़ा हुआ था। हैबिट पहने हुये लोगों के प्रति स्वाभाविक रूप से आदर का भाव मेरे मन में था। मैं चुप था। उन्होंने मेरा कंधा थपथपाया और मुझसे कहा: नवयुवक! तुम शिक्षित और बुद्धिमान लगते हो। तुम हवाई जहाज से यात्रा कर रहे हो और मैं देख रहा हूँ कि तुम यह बकवास पढ़ रहे हो। मैंने पूछा: इसमें क्या बकवास है? उन्होंने कहा: क्या तुम इन चीजों में विश्वास करते हो? मैंने उनसे कहा: आप तो जानते ही होंगे कि सबका विश्वास व्यक्तिगत ही होता है। उन्होंने कहा: नहीं! हिन्दुत्व में निरी मूर्खता की बातें भरी हुई हैं। वे लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। मैंने उनसे पूछा: क्या आप इसमें विश्वास नहीं करते? उन्होंने कहा: नहीं, मेरे बच्चे! ईसाई धर्म में पुनर्जन्म की कोई अवधारणा नहीं है। मैंने उनसे कहा: फादर! क्या मैं आपसे एक सवाल पूछ सकता हूँ? उन्होंने कहा: जरूर। मैंने उनसे पूछा: जब कोई व्यक्ति मरता है तो क्या होता है? उन्होंने कहा: यह फैसले के दिन का इन्तजार करता है। मैंने पूछा: फादर! यह फैसला कौन करता है? उनका जबाब था: स्वर्ग में यह फैसले ईश्वर करता है। यह फैसला हमारे अनुकूल या प्रतिकूल कुछ भी हो सकता है। मैंने पूछा: किस अर्थ में? उन्होंने कहा: अगर हम पाप करते हैं तो हमें नरक में भेजा जा सकता है लेकिन अगर हम सद्गुणी है तो वह अपनी अनन्त कृपा से हमें स्वर्ग में भेजता है। मैंने पूछा: स्वर्ग में भेजने में उसकी अनन्त दया कैसी? दया की जरूरत तो हमें तब है जब मैं नरक में जा रहा होऊँ। उन्होंने कहा: नहीं, मेरे बच्चे! हम ईश्वर की इच्छा पर कोई सवाल नहीं खड़ा कर सकते। मैंने पूछा: इसके बाद क्या होता है? उन्होंने कहा: इसके बाद क्या होता है - इस प्रश्न से तुम जानना क्या चाहते हो? मैंने कहा: मेरा मतलब यह है कि

जब एक आदमी स्वर्ग में जा रहा है और दूसरा आदमी नरक में तो इसके बाद भी कुछ होना चाहिये। उन्होंने कहा: नहीं, मैं तुम्हारी बात ठीक से नहीं समझा। मैंने कहा: फादर! अगर मैं छुट्टी पर जाता हूँ तो कहीं जाता हूँ, अगर मुझे जेल की सजा हो जाये तो भी मैं सजा खत्म होने पर छूट कर समाज में वापस आ जाता हूँ। फिर उन आत्माओं का क्या होता है जिन्हें फैसला होने पर स्वर्ग या नरक में भेज दिया जाता है? वे शाश्वत रूप से तो स्वर्ग या नरक में नहीं रह सकतीं। वे नाराज हो गये। उन्होंने कहा: तुम तर्क कर रहे हो। वे उठकर शौचालय चले गये। फिर हवाई जहाज की यात्रा खत्म हुई और वे उतर गये। लेकिन वे मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये। आखिर इसके बाद क्या होता है - इसका जबाब दिया जाना चाहिये। अब इसका कोई जबाब नहीं है। एक को स्वर्ग भेजा गया दूसरे को नरक। फिर क्या हुआ?

आध्यात्मिकता कहती है: यह सब बकवास है। न स्वर्ग है न नरक। अपने निश्चित संस्कारों के कारण हमारा यहाँ पुन: आना और होना जरूरी हो जाता है, हमें उन पाठों को सीखना होता है जो हमारे लिये जरूरी हैं। अपने विकास के पथ पर हमने जो गलतियाँ की हैं उन्हें हमें सुधारना होता है। इस जीवन में हमारे सामने एक स्थिति ऐसी आती है जब हमारा आगे का सीखना रुक जाता है। हम संतृप्त हो जाते हैं। फिर आत्मा अपने अनन्त विवेक के साथ निर्णय करती है: अब बहुत हुआ। अब मुझे बदलना होगा। वह इस शरीर को छोड़ देती है और अगर इसे सीखने के लिये पुन: आना है तो यह दूसरा वातावरण, दूसरा शरीर और वह सब जरूरी चीजें अपने विकास के लिये चुनती है जिसकी उसे जरूरत होती है। इस प्रकार देखें तो यह जीवन हमारी खुद की पसंद है। हम खुद चुनते हैं कि हमें कितना लम्बा जीवन चाहिये, कहाँ जन्म लेना है, किसके यहाँ जन्म लेना है - अफ्रीका में या यूरोप में, भिखारी के यहाँ या राजा के यहाँ। आत्मा हर चीज चुनती है। लेकिन इसके बाद क्या होता है? यह दुनियाँ जन्म के बाद हमें पकड़ लेती है। फिर से इच्छायें बढ़ने लगती हैं, लालच बढ़ने लगता है, जिस योजना को बनाकर हम जन्म लेते हैं उसे हम भूल जाते हैं और जीवन का पाठ हम सीख नहीं पाते। इस अर्थ में हमारी मृत्यु बेकार हो जाती है। हमने तो मरना इसलिये पसंद किया था ताकि हम नया जीवन पा सकें, खुद के लिये विकास का नया उपहार पा सकें। लेकिन उस अवसर को हमने अपने मूर्खतापूर्ण व्यवहार, अपने मूर्खतापूर्ण विचार

और अपने मूर्खतापूर्ण कार्य द्वारा नष्ट कर देते हैं। यह तो उसी तरह है जैसे कोई नाविक अपनी कुतुबनुमा जहाज को छोड़कर खुद को समुद्री हवाओं के हवाले कर दे, जिसकी कोई दिशा नहीं है, जिसमें कोई पतवार नहीं है, जिसका कोई पाल नहीं है। किसी दिन वह बर्फ की चट्टान से टकराकर या डूबकर या भूख से मर जायेगा।

कुछ दिन पहले मेरे मन में एक बहुत ही रोचक विचार आया। हम सभी ने उसी अवसर के साथ जन्म लिया है जिसके बारे में बाबूजी कहते हैं: यह इसी जीवन में सम्भव है। इसका मतलब यह है कि यह अवसर सबको समान रूप से उपलब्ध है। जन्म और परिस्थितियों से इसका कोई संबंध नहीं है। मेरी समझ में तो आध्यात्मिकता में अद्भुत समाजवाद है। अवसर की नज़र से सभी एक समान हैं। ईश्वर को भूल जाइये। जब हम जन्म लेते हैं तो हमें एक अवसर मिलता है लेकिन जैसे-जैसे हम बढ़ते जाते हैं, अवसर कम होते जाते हैं। किशोर होने तक हम अधिकांश अवसर खो चुके होते हैं। किशोरावस्था के बाद शायद ही कोई अवसर हमारे पास बचता है। हम दलदल में गहरे डूबते जाते हें। न कोई अवसर होता है न कोई विकल्प। हमारा संकल्प व्यर्थ हो जाता है। हम जितना अधिक संघर्ष करते हैं उतना ही अधिक गहराई में धँसते जाते हैं। मैं नहीं जानता कि फ्रेंच में दलदल को क्या कहते हैं? सेब्लेसमाउवेन्ट्स! एक बार अंदर गये तो डूब गये।

ऐसे लोगों के लिये जीवन दलदल ही है। वे इसमें गहरे डूबते जा रहे हैं। उनके इरादे नेक हैं। वे बदलने की और सुधरने की कोशिश भी करते हैं। लेकिन गलत दिशा में डूबते जा रहे हैं। अब जरूरत है कि कोई उन्हें बाहर से रस्सी फेंक कर खींच ले। मालिक यही करता है। लेकिन अगर वह कहता है कि उसे मालिक की जरूरत नहीं है। मुझे मालिक नहीं चाहिये। तो ठीक है, डूबते जाइये। किसे चिन्ता है? किसी को कोई चिन्ता नहीं है। आपको डूबने का पूरा अधिकार है और यह जानने पर कि आप उसमें मर जायेंगे, आप स्वयं को एक अवसर और देते हैं। अगर इसी समय आप मालिक की सहायता को स्वीकार कर लेते हैं तो दुबारा जन्म लेने, रास्ता खो देने और मालिक को न पाने की समस्या से बच जाते हैं। इसी जीवन में इसे कर लेना इसलिये महत्वपूर्ण है क्योंकि अगर दुर्भाग्य से इस जीवन में हम अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर लेते और हमें दुबारा जन्म लेना पड़ता है तो हो सकता

है कि हमें दुबारा मालिक न मिले। छोटे गाँव में हम रास्ता ढूँढ़ नहीं सकते और शहरों में हम खो जाते हैं।

एक बार जब मैं यूगोस्लाविया में स्प्लिट में था, मैं अन्य लोगों के साथ बड़ी ही बहादुरी के साथ एंड्रियाटिक में तैरने गया। तट से हम ज्यादा से ज्यादा १५० मीटर दूर रहे होंगे, मैंने अपनी चारो ओर देखा तो मुझे कुछ दिखायी नहीं दिया और मैं डर गया। आखिर जमीन किस तरफ है? मैं समुद्र में तैरने का अभ्यस्त नहीं था। उस डर के समय में मेरे मन में कोई तर्क नहीं था। उस समय मैं यह नहीं सोच सकता था कि लहरें मुझे स्वत: समुद्र के किनारे की ओर ले जायेंगी। वस्तुत: जब हम भयभीत होते हैं, सोच नहीं पाते। मैं उस दिन डूब गया होता क्योंकि मेरे मन में भय छा रहा था। मैं श्वॉस नहीं ले पा रहा था। लेकिन सिंहराशि का होने के नाते आप मेरी आक्रामकता जानते ही हैं। मैंने कहा: कहीं यह यूगोस्लाव यह न समझ लें कि वे मुझसे बेहतर हैं। मुझे अपने से ये खराब न समझ पायें। फिर मैंने बहादुरी के साथ तैरना शुरु किया और सब कुछ ठीक हो गया। बस डर के क्षण को हमें पार करना है। स्प्लिट के एंड्रियाटिक का मेरा यह अनुभव बहुत अच्छा था।

इसी तरह यहाँ भी भय पैदा होता है। हमें इस भय को खुद पर छा जाने की अनुमति नहीं देनी चाहिये। कुछ गहरी श्वॉसें लीजिये - यह खत्म हो जायेगा। हम अपने विषय से हटते नहीं। पुन: अपनी मृत्यु का स्थान और समय खुद निर्धारित करते हैं। जब हम जन्म लेते हैं तो सबके सामने समान अवसर होता है। इस दृष्टि से सोचा जाये तो मृत्यु एक महान समतलकर्ता है। मुझे आश्चर्य होता है कि लोगों के पास कैसे इतने गहन विचार होते हैं। भौतिक जीवन के हिसाब से अगर हम देखें तो हम असमान अवसर में जन्म लेते हैं। एक ही विद्यालय में कुछ बच्चे तेजस्वी होते हैं, कुछ की पढ़ाई छूट जाती है। एक ही कम्पनी में कुछ शीर्ष तक जाते हैं, कुछ सतह में ही डूब जाते हैं। एक ही समुद्र में कुछ नाव खेते रहते हैं, कुछ डूब जाते हैं। लेकिन यह ईश्वरीय कानून है कि जन्म के समय हर बच्चे के सामने समान अवसर होते हैं। यही विचार वहाँ प्रभावी है जहाँ हमारे पास सबके लिये स्कूल है। लेकिन अभी हाल तक जोहान्सबर्ग में सफेद और काले लोगों के लिये अलग-अलग स्कूल होते थे। कोई अलग शिक्षा नहीं, समान अवसर और समान प्रयास तभी परिणाम भी समान होगा। और यह केवल अध्यात्म में ही सम्भव है। इस दृष्टि से हम विचार करें तो पाते हैं कि मृत्यु

अतीत में खोये हुये सारे अवसरों को मिटाकर साफ कर देती है। चुके हुये अवसर, बर्बाद किये गये अवसर, गलत प्रयोग किये गये अवसर साफ हो जाते हैं और मृत्यु हमें पुन: मैदान में उतारती है और कहती है: फिर से शुरु करो। तुम फिर दौड़ की शुरुआत में हो। इसे तुम जीत सकते हो। इस तरह हम देखते हैं कि अगर हम ठीक से मरें तो मृत्यु कितनी अद्भुत चीज है। वस्तुत: जिन लोगों ने इस जीवन में ही आध्यात्मिक लक्ष्य अर्जित कर लिया, उनकी मृत्यु नहीं होती – वे आँखें बंद कर गहनतम ध्यान में चले जाते हैं। दूसरे समझते हैं कि हमारी मृत्यु हुई है लेकिन हम एक ऐसे आयाम में चले जाते हैं जहाँ हमें यह तक पता नहीं होता कि कभी हमारा शरीर भी था। यही समाधि की अवस्था में होता है। हम आगे की ओर गिरते हैं, सिर जमीन में टकराता है लेकिन हमें इसका पता नहीं होता। ढंग से बैठने का अभ्यास न होने के कारण पेशियाँ चटखती हैं – इससे जाग्रत होकर हम फिर से ठीक होकर बैठ जाते हैं लेकिन फिर गिरना शुरु कर देते हैं।

यही जीवन का अंत है इसलिये इसे मृत्यु कहना मूर्खता है। जिस व्यक्ति ने आध्यात्मिक ऊँचाइयों को प्राप्त कर लिया है उसके लिये वह वैसे ही है जैसे कोई सोने जाये। दूसरे लोग रोते हैं, उसके जाने पर दु:ख मनाते हैं, उसके शरीर को जलाते हें, दफन करते हैं लेकिन वह अब यहाँ कहाँ है? वह तो दूसरे आयाम में चला जाता है। अगर हम इस अवस्था को इस जीवन के अंत तक नहीं अर्जित कर पाते तो फिर अद्भुत और लाजबाब ईश्वरीय दया पाकर हम पुन: इसे शुरु करने का एक अवसर प्राप्त करते हैं। कोई अंतर नहीं पड़ता। चूँकि यहाँ कोई उधार नहीं होता। हमें अतीत से नहीं पहचाना जाता। पूरी तरह से हमें एक नया अवसर प्राप्त होता है, जिसमें अनन्त सम्भावनायें छिपी होती हैं, जो सबको दी जाती हैं।

अगर हम मृत्यु के इस अर्थ को ठीक से समझ लें तो हम स्वयं कहेंगे कि हमने अपना जीवन व्यर्थ किया। हमें अपनी मृत्यु व्यर्थ नहीं करनी चाहिये। यह हमारा अंतिम विचार होना चाहिये। चूँकि अगर हम जानते हैं कि हम क्या कर रहे हैं तो हम जिसे जीवन में अर्जित नहीं कर सके उसे मृत्यु में अर्जित कर सकते हैं। इसके लिये यह जरूरी है कि मृत्यु के क्षण हमें इस बात का बोध हो कि हमारा लक्ष्य क्या है। जब हम यह सोचकर सोते हैं कि मैं सुबह पाँच बजे उठ जाऊँगा तो निश्चय ही पाँच बजे सुबह हमारी नींद खुल जाती है। क्यों? क्योंकि हमारा मन उसपर सतत काम करता रहता है। वह हमें जगा देता है। यह असफल

नहीं हो सकता। यह असफल केवल तब होता है जब हमें खुद पर भरोसा नहीं होता। मुझे खुद की अपेक्षा घड़ी और ऐसी ही दूसरी चीजों पर ज्यादा भरोसा होता है। आज हम यंत्रों पर भरोसा करने लगे हैं - जगाने के लिये घड़ी, रसोई में टाईमर - हर चीज अंदर से निकल कर बाहर आ गयी है। मन की शांति और आराम अब अंदर नहीं है, बाहर इसकी तलाश है। अब इसकी तलाश हम कुशन, कालीन, बढ़िया बिस्तर, एयर कंडीशनर में करने लगे हैं जबकि इन्हें अंदर होना चाहिये। अगर हम इस विचार पर गंभीरता से मनन करें कि हर वह चीज जो मेरे अंदर होनी चाहिये, बाहर आ गयी है और मैं केवल खोल रह गया हूँ तो हमारी समझ में आयेगा कि हम क्या हो गये हैं।

अब इस स्थिति में बदलाव कैसे लाया जाये जिससे हम खुद पर निर्भर हो सकें? नयी आदतों का निर्माण। अपनी अलॉर्म घड़ियों को फेंक दीजिये। समय पर उठिये। प्रकृति के साथ सामंजस्य करना सीखिये। बाँग देने वाले मुर्गे पर भरोसा करिये। आप पूछ सकते हैं कि किस बकवास सीमा तक हम इसे ढोयें? लेकिन यह बकवास नहीं है। क्योंकि अपने अस्तित्व की आंतरिक शक्ति, आंतरिक क्षमता और आंतरिक पूर्णता को विकसित करना हमारे लिये सम्भव है जबकि बाहर हम इसे केवल स्थानान्तरित कर सकते हैं - इससे ज्यादा कुछ नहीं। अगर हम किसी रात में अलॉर्म लगाना भूल जायें तो आप अगली सुबह देर से उठते हैं। कभी-कभी जब यह बजता है हम अंधे हाँथ से इसे दबाकर आगे और छः घंटे के लिये सो जाते हैं। लेकिन आंतरिक निर्भरता कभी असफल नहीं होती।

साहस का यही अर्थ है कि हम वह पायें जिसकी हृदय को जरूरत है। उत्साह दिलाने का अर्थ भी यही है कि किसी के हृदय में उसको रखा जाये जिसे वहाँ होना चाहिये। और उत्साह? उत्साह कहाँ होता है? यह मांसपेशियों में नहीं होता। यह हृदय में होता है। असीलिये हम महान लोगों को शक्तिशाली नहीं पाते। उनके पास मनोबल होता है जिससे वे ब्रह्माण्ड, लोगों, शिक्षकों, शैतानों और संसारों को चुनौती देते हैं। वे चाहें तो इस ब्रह्माण्ड को छोड़कर इससे दूर जा सकते हैं। इसलिये हमें इसे जरूर जानना चाहिये कि ये बल कहाँ होना चाहिये था, कहाँ से उठाकर हमने इसे बाहर कर दिया है? शक्तिशाली राष्ट्रों में भी ऐसे लोग क्यों हैं जो हमेशा बंदूक के पीछे भागते रहते हैं? आज व्यक्तिगत बल का कोई मतलब नहीं रह गया है। हम एक, दो, तीन, चार बंदूक खरीदते चले जाते हैं और घर के अंदर ही हथियार घर बना

देते हैं। और होता यह है कि एक दिन माँ रात के अँधेरे में टहलते हुये आती है और आप यह न जानते हुये कि कौन टहल रहा है, उसे गोली मार देते हैं। फिर अदालत में रोना शुरु करते हैं।

वस्तुत: बाहर की शक्ति हमारे अंदर की कमजोरी है। भले ही यह लगे कि आंतरिक शक्ति बाहर की कमजोरी है। ऐसा नहीं हो सकता। यह तो वास्तविक शक्ति है। इसीलिये कहा जाता है: वह अंदर से बहुत मजबूत है। इसलिये हमें हर चीज वापस अपने हृदय में रखनी है। अब वह हर चीज क्या है? यह टुकड़े-टुकड़े नहीं हो सकता। ऐसा नहीं होता कि मैं शक्ति वापस रखता हूँ, समृद्धि वापस रखता हूँ, बीमा वापस रखता हूँ। यह सम्भव नहीं हे। आखिर वह चीज क्या है जो सब कुछ होकर भी कुछ नहीं हे। यह दिव्यता है। मैं इसे अपने अंदर कुछ नहीं के रूप में रखता हूँ और यह सब कुछ हो जाता है। अगर मैं इसे सब कुछ के रूप में रखने की कोशिश करूँ तो शायद शाश्वत काल तक का समय भी पर्याप्त न हो। यह तो बालू के कणों को गिनकर भरने जैसा है। यह असम्भव है। अगर आपको एक डिब्बा भरना है तो भी आपको वर्षों का समय चाहिये। इसीलिये हमारे पास अनस्तित्व का विचार है। अनस्तित्व के रूप में ईश्वर, जिसका कोई नाम नहीं, कोई रूप नहीं, कोई गुण नहीं लेकिन जिसमें से सब कुछ प्रकट होता है। हमें अपने अंदर इसी अनस्तित्व को समाहित कर लेना है और उसे अपने हृदय के अंदर रख लेना है। हर चीज इसी अनस्तित्व से आती है।

इसीलिये अपने हृदय में हम कुछ नहीं रखते हुये भी सब कुछ रख पाते हैं। लेकिन अगर हम सब कुछ रखने का प्रयास करते हैं तो हम कुछ नहीं रख पाते। ऐसा करते समय वस्तुत: हम उस बच्चे की तरह हो जाते हें जो खिलौने की दुकान में हक्का-बक्का होकर खड़ा हो जाता है और नहीं समझ पाता कि क्या ले? वह मेरे उस मित्र की तरह होता है जिसके साथ एक बार मैं अपने दफ्तर से घर आ रहा था। रास्ते में महिलाओं का एक कॉलेज था और कुछ सौ लड़कियाँ बाहर थीं। उसका हाँथ काँपने लगा। मैंने पूछा: क्या हो रहा है? तुम्हारा तो हाँथ काँप रहा है। उसने कहा: नहीं, मैं सोच रहा था कि मान लो अभी कोई आये और कहे कि तुम इनमें से लड़कियों को ले जा सकते हो तो मैं तो पागल हो जाऊँगा। मैंने कहा: क्यों? तो उसने कहा: वह सभी इतनी सुंदर हैं कि मैं इनमें से किसको चुनूँगा? यही समस्या बच्चे के सामने खिलौने की दुकान में आती है, रेस्टोरेन्ट में आदमी के सामने और बार में शराबी के सामने आती है। कौन सी लें? सारी बोतलें चमक

रही हैं। सभी महँगी हैं। अगर हम इन्हें एक के बाद एक लें तो क्या होगा - मिश्रित शराब! हमारे जीवन में भी यही होता है। बच्चे मिश्रित खिलौनों के साथ, प्रेमी मिश्रित प्रमिकाओं के साथ, शराबी मिश्रित शराबों के साथ। सब कुछ अंत में गटर में जाता है। इसलिये मिश्रण मत कीजिये। मिलावट का अर्थ है - मिश्रण, अशुद्धता नहीं! एक चीज में दूसरी चीज की मिलावट अशुद्धता है। पानी और दूध! पानी स्वयं में अद्भुत है और दूध भी स्वयं में अद्भुत है। मैं पानी के बिना नहीं रह सकता हूँ और दूध के बिना भी नहीं रह सकता हूँ लेकिन हमें दूध में पानी मिलाने की इजाजत नहीं है क्योंकि यह दूध को मिलावटी बनाता है। इसी तरह जब हम अपने प्रेम को मिश्रित करते हैं तो यह भी मिलावटी हो जाता है। इसलिये कोई भी मिश्रण मत कीजिये। एक पूर्ण को किसी दूसरे पूर्ण में नहीं मिलाया जा सकता। यह मिलावट है। मेरे दो ईश्वर नहीं हो सकते। यह मिलावट है। तीन की मिलावट और निराशापूर्ण है और चार, फिर पाँच - गटर है। एक ईश्वर! इसीलिये हम अपने मिशन में कहते हें - एक मालिक, एक मिशन, एक पद्धति! हालाँकि ये तीनों भी मूलत: एक ही हैं।

जो लोग आध्यात्मिक दृष्टि से मजबूत हैं उनकी मृत्यु नहीं होती। हम आनन्दपूर्ण समाधि में जाते हैं - उससे बाहर न आने के लिये। यह अंतिम समाधि होती है। इसीलिये जब संतों की मृत्यु होती है तो इसे महासमाधि, अंतिम समाधि या सर्वोच्च समाधि कहा जाता है। ऐसी समाधि जहाँ से वापसी सम्भव नहीं है। वे वहाँ से इस चेतन अस्तित्व में वापस नहीं आते। जब हम समाधि में प्रवेश करते हैं तो हम बार-बार उसमें से वापस आ जाते हैं क्योंकि हमें अभी अपने संस्कारों से निजात पाना होता है, हमें वह संतुलित अवस्था अर्जित करनी होती है जिसके बाद ही हम अंतिम रूप से जा सकते हैं।

हममें से जो लोग आध्यात्मिक रूप से पर्याप्त शक्तिशाली नहीं हैं, (सम्भव है ऐसा कोई न हो) उनसे अपेक्षा है कि वे मृत्यु से इस तरह गुजरेंगे जैसे मृत्यु उनके लिये एक नया अवसर हो जहाँ हर चीज साफ हो। वे नयी स्लेट के साथ जीवन शुरु करेंगे। नया पृष्ठ खोलेंगे और उस अवस्था में उनके लिये अनन्त सम्भावनायें होंगी। प्रकृति कभी अवसर देने से मना नहीं करती। यह ऐसा एकाउन्ट बुक नहीं है जहाँ पिछले साल का ऋण नयी बही में पहले पृष्ठ पर चढ़ाया जाता है और यह ऋण तब तक बढ़ते रहते हैं जब तक हमें कर्जदारी के लिये जेल न हो जाये। यह ऐसा नहीं है। ईश्वर के लेखे में कोई ऋण नहीं होता।

वहाँ केवल अवसर, अवसर और अवसर होते हैं। मैं समझता हूँ कि आप सब लोग इन अवसरों का लाभ उठायेंगे और उनकी कृपा से इस अस्तित्व से विकसित होकर उच्चतर और फिर उच्चतम अस्तित्व में विकसित हो सकेंगे।

धन्यवाद !

VII

ओज़राँ, फ्राँस

जुलाई १६, १९९१

जुलाई १६, १९९१

मैंने आध्यात्मिक जीवन के संबंध में अपने कुछ विचार आपके सामने रखे और इसकी तुलना धर्म से करने की कोशिश की। धर्म और आध्यात्मिकता! मैं नहीं जानता कि मैंने यह काम कितनी अच्छी तरह से किया। मैं सोचता हूँ कि मृत्यु संबंधी अपने विचारों को मैं आज और आगे बढ़ाकर अपनी वार्ता को समाप्त करूँ। वे कहते हैं: मृत्यु महान समतलकर्ता है। हम प्राय: यह बात कहते हैं कि राजा या रंक, पुरुष या स्त्री, संत या पापी – मानव जीवन का अंत सबके लिये एक समान होता है। इस अर्थ में ही हम मृत्यु को महान समतलकर्ता कहते हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि यह समतलीकरण मृत्यु के बाद होता है। कुछ लोगों ने मुझसे प्रश्न पूछा है कि यह कैसे सम्भव है कि हम बराबरी के अवसरों के साथ जीवन की शुरुआत करें? क्या यह सहजमार्ग की संस्कार व्यवस्था के विरूद्ध नहीं है? यह प्रश्न उचित है लेकिन इस प्रश्न से यह भी प्रदर्शित होता है कि हम अभी भी सहजमार्ग को ठीक से नहीं समझ पाये हैं।

बाबूजी ने स्वयं मृत्यु की परिभाषा देते हुये कहा: जब हम इस जीवन का बोझ सहन करने में असमर्थ हो जाते हैं तो प्रकृति सांसारिक और लौकिक अस्तित्व को विश्राम देकर हमें आराम देती है जिससे हम पुन: अपनी ऊर्जा बटोरें, जीवन का पुनरावलोकन करें, यथासम्भव संस्कारों का निराकरण करें और नयी शुरुआत करें।

हम नयी शुरुआत क्यों करते हैं? क्योंकि हमारे लिये इस अंत और उस शुरुआत के मध्य सारे संस्कारों का निराकरण करना सम्भव नहीं हो पाता। कुछ शेष रह जाता है। इसलिये हमें फिर आना पड़ता है। इस प्रकार हम विचार करें तो पाते हैं कि मृत्यु जीवन से अवकाश की तरह है। बाबूजी ने सुंदर सादृश्य प्रस्तुत करते हुये कहा कि कालकोठरी के कैदियों को भी आँगन में धूप , ताजी हवा और कसरत के लिये कुछ घंटों के लिये बाहर निकाला जाता है ताकि जब वे कालकोठरी से निकलें तो आगे की अवधि का सामना करने में समर्थ हो सकें।

इसलिये मृत्यु कोई दण्ड नहीं है, न ही यह अंत है। कुछ पश्चिमी लेखकों ने मृत्यु को अपमान और भय का विषय माना है। बहुत से

लोगों को इस बात की शिक्षा दी गयी है कि मृत्यु से बचना चाहिये चाहे आत्महत्या ही क्यों न करनी पड़े? लेकिन यह बकवास है। आप मरकर मृत्यु से बच नहीं सकते। अगर हम मृत्यु से बचना चाहते हैं तो ठीक प्रकार से जीवन व्यतीत करके ही हम मृत्यु से बच सकते हैं। मैंने हर जगह लोगों को चाहे वह स्कूल की कक्षा की किताबें हों, विज्ञान की कल्पना की कहानियाँ हों, दर्शन हो या कविता हो, मृत्यु का चित्रण सोचनीय अवस्था में करते हुये ही पाया है। लेकिन अगर मुझे केवल मरना ही है तो हमारे जन्म का लक्ष्य क्या है? मेरा जन्म आखिर किसलिये हुआ? अगर मुझे टी.जी.वी. से उतर ही जाना है तो मैं इसमें क्यों चढ़ूँ? यह भी मूर्खतापूर्ण ही होगा। यात्रा का अर्थ यह नहीं है कि यह हमेशा चलती रहेगी। जीवन तो चलता है लेकिन यात्रा नहीं।

इस तरह बार-बार हम इस विचार पर वापस आ जाते हैं कि जब भी हम यह मान लेते हैं कि शरीर का जीवन ही सच्चा जीवन है और शरीर के खत्म होते ही हमारा अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है तो हम कारागार में जाने या किसी गंदी जगह में जाने की गलती को ही बार-बार दुहरा रहे होते हैं। इसलिये हम चाहे जिन संस्कारों के अवशेष के साथ अपना जीवन शुरु कर रहे हों, यह पूरी तरह से सत्य है कि प्रत्येक को शुरुआत में समान अवसर मिलता है। अब इस अवसर का उपयोग हम कई तरीकों से कर सकते हैं। हो सकता है कि कोई मूक हो, बधिर हो, अंधा हो या फिर विकृत हो। ऐसी दशा में आप फिर पूछेंगे कि आपने खुद कहा है कि आप मानसिक रोगियों की सहायता नहीं कर सकते क्योंकि वे ध्यान के लिये अपने मन का उपयोग नहीं कर सकते। तो भी अवसर हैं। लेकिन कैसे? यह आपको सोचना है कि आप इन अवसरों का उपयोग कैसे करें? क्योंकि यह तो निश्चित है कि पृथ्वी पर जीवन निरर्थक, शोचनीय और अंतहीन निराशा का नहीं हो सकता। जो लोग ऐसा सोचते हैं - वे ईश्वर की दया को, उसकी उदारता को अस्वीकार कर रहे हैं और सच पूछा जाये तो उसके प्रेम को अस्वीकार कर रहे हैं। आज ऐसे लोग भी मिल जाते हैं जो ईश्वर की दया और उसके प्रेम पर भी प्रश्नचिन्ह लगा देते हैं। वे कहते हैं: अगर ईश्वर है तो यह बच्चा ऐसा क्यों है? इसके विपरीत हमें यह पूछना चाहिये कि ईश्वर तो स्वयं प्रेम है फिर यह बच्चा ऐसा कैसे हो गया? हमारे अंदर जिज्ञासा का भाव होना चाहिये, संदेह नहीं। हमारी निष्ठा नहीं खण्डित होनी चाहिये। ईश्वर तो प्रेम है, दयालु है, सहृदय है फिर यह बच्चा ऐसा कैसे हो गया? तब सहजमार्ग हमें समझाता है कि

ऐसा उसके अतीत के संस्कारों की वजह से है। फिर क्या यह मान लिया जाये कि जीवन की यह अवस्था, यह परिस्थितियाँ, यह परेशानियाँ ईश्वरीय दण्ड हैं? निश्चय ही ऐसा नहीं है। फिर बचाव का रास्ता क्या है? अगर हम भी अपनी जगह पर हैं और ईश्वर भी अपनी जगह पर है तो फिर इतनी तकलीफें क्यों हैं? ऐसा कैसे कि वह प्रेम है और मैं तकलीफ में हूँ? वह दयालु है और मैं स्वयं को पापी महसूस कर रहा हूँ, जिसे माफ नहीं किया जा सकता? वह सहृदय है और हम स्वयं को शोकग्रस्त और अक्षम्य महसूस करते हैं? वह उदार है और मैं स्वयं को दोषी समझता हूँ? ऐसा इसलिये क्योंकि हम महसूस कर पाने में असमर्थ होते जा रहे हैं। हमने महसूस करना बंद कर दिया है। हमारा संपर्क टूट गया है। इसलिये गलती तो हमारी है उसकी नहीं।

मैं फिर से यह दुहरा दूँ कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि शुरु में अवसर समान होते हैं। मैंने इस विचार को टिबेटन बुक ऑफ दि डेड में भी पाया है। आप विश्वास करें या न करें लेकिन यह एक पुरानी श्रेष्ठ पद्धति है जिसमें यह विचार प्रतिबिम्बित हुआ है कि मृत्यु के क्षण कुछ भी सम्भव है। आपमें से अगर किसी ने 'मेरे गुरुदेव' पढ़ी होगी तो उसमें बाबूजी ने कहा है: मृत्यु के क्षण किसी भी आत्मा को यहाँ से उठाकर वहाँ रखना और उसे मुक्त कर देना सम्भव है। परेशानी तो उसके बाद शुरु होती है। इसीलिये सही तरीके से मरने की जरूरत है।

लेकिन जब हम मृत्यु से डरे हुये हैं और कह रहे हैं कि हम मरना ही नहीं चाहते तो हम यह विचार कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि हमें ठीक से मरना है? हमें उचित तरीके से मरना चाहिये? ठीक प्रकार से मरने का एक तरीका सतत् स्मरण है। अगर हम हमेशा उसकी याद में हैं और हमारे जीवन का अंत उसी की याद में होता है तो निश्चय ही मरने के समय वही आकर हमें ले जाता है। यही मुक्ति है। मृत्यु का यही क्षण हमारे लिये मुक्ति का क्षण बन जाता है। लेकिन अगर हम उसके ख्यालों में न होकर अपनी इच्छाओं में हैं और भय से ग्रसित हैं तो टिबेटन बुक ऑफ दि डेड ने इस क्षण का बड़ा ही नाटकीय वर्णन किया है। मृत्यु के क्षण से आत्मा की गति १ दिन, २ दिन, ३ दिन, ४ दिन, ५ दिन के रूप में देखते हुये वे कहते हैं: आत्मा अपने पथ पर है। मुक्ति अब सरल नहीं रह गयी है। आत्मा को इसके बाद राक्षस और प्रलोभन दोनो दिखायी देने लगते हैं। आत्मा को चाहिये कि इनका विश्वास न करे। लामा अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग कर आत्मा को सलाह देता है: इन चीजों से भटको मत। ये राक्षस तुम्हारे

मन के अंदर छिपे तुम्हारे भय हैं। बाँह उठाकर तुम्हारा स्वागत करती हुई अप्सरायें भी तुम्हारी दबी हुई इच्छायें हैं। दोनो का ही अस्तित्व नहीं है। आगे बढ़ते जाओ। इनसे बचे रहने पर अभी भी मुक्ति सम्भव है। पहले दिन के खत्म होने पर जब दूसरा दिन शुरु होता है, वे कहते हैं: अब तुम खुद को अँधकार में पाओगे लेकिन याद रखो: शाश्वतता में कहीं अँधकार नहीं है। यह अँधकार भी तुम्हारे मन का ही प्रकटन है। साहस बटोर कर इस अँधकार को नकार दो। इसे मन से निकाल कर फेंक दो तो तुम्हें चमकदार प्रकाश दिखायी देगा। उसकी ओर चलो। अभी भी तुम्हारी मुक्ति सम्भव है। इसी तरह लामा लोग आत्मा का मार्गदर्शन करते जाते हैं और अंत में ४१वें दिन वे कहते हैं: इस माध्यम से तुम्हारी यात्रा अब पूरी हो गयी। अब अगला गर्भ तुम्हारा इन्तजार कर रहा है। कम से कम इस गर्भ में साहस के साथ यह जानते हुये प्रवेश करो कि मुक्ति अभी भी सम्भव है। हालाँकि तुम्हें एक बार फिर मर्त्यलोक में रहना है लेकिन आत्मा का पुनर्जन्म हो गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि मृत्यु और नये जीवन के हर क्षण में मुक्ति सम्भव थी। मृत्यु के क्षण तो मुक्ति पूरी तरह से सम्भव थी। तिब्बती परम्परा कहती है कि सम्भावनायें मृत्यु के माध्यम से जारी रहती हैं। अगले जीवन में भी यह सम्भावना बनी रहती है। लेकिन वे बताते हैं कि भय और प्रलोभन हमें पकड़ कर पीछे रखते हैं। सहजमार्ग भी यही कहता है: हमारे संस्कार हमें पकड़े रहते हैं। इन दोनो में कोई अंतर नहीं है। जो भी परम्परा धार्मिक नहीं है, सम्भावनाओं की बात करती है। धर्म मृत्यु, अंतिम क्रिया, फैसले, और माफी की बातें करता है। जो भी दर्शन धर्म से आगे जाता है, मैं उसे अधार्मिक तो नहीं कहूँगा, आध्यात्मिक भी नहीं, गैर धार्मिक कहता हूँ क्योंकि वे हमेशा बचने की सम्भावनाओं की बात करते हैं। क्या यह बचना पलायन जैसा नहीं है? जिस तरह पापी किसी चीज से भाग रहा है? कैदी जेल से भाग रहा हो? खुद अपना स्व निम्नतर स्व से बचना चाहता है। सम्भावना तो पूरी है, शाश्वत है। यह किसी भी क्षण, कभी भी खत्म नहीं होती। किसी के लिय रोकी नहीं जाती। यही पूर्ण न्याय है, सर्वशक्तिमान की दया, सहृदयता और प्रेम है। हमें इसमें विश्वास रखना चाहिये।

ऐसी स्थिति में जन्म लेने पर हमारे अवसर असमान कैसे हो सकते हैं? ये मृत्यु के समय भी असमान नहीं होते। जो भी उच्चतम या लक्ष्य का विचार मन में रखकर मरता है वह लक्ष्य तक पहुँच ही जाता है। चाहे वह कोई भी हो! ध्यान, सतत् स्मरण, मालिक के प्रति प्रेम का

विकास तो हम इसलिये करते हैं ताकि शरीर का त्याग करते समय भी हमारे मन में अच्छे विचार ही प्रभावी रहें। अगर हमने इसे अपने अस्तित्व का निरन्तर सत्य बना लिया तो निश्चय ही हमारी मृत्यु के क्षण भी यह हमसे अलग नहीं हो सकेगा। हमें इसी विचार और अवस्था में मरने की कोशिश करनी चाहिये और तब हमारे पुनर्जन्म का और हमारी मुक्ति न होने का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा होगा। हिन्दुत्व कहता है कि अगर आप इतना भी न कर सके तो आप अपने जीवन के अंतिम क्षण में रूप, गुण, नाम रहित ईश्वर का स्मरण कीजिये - इससे भी यह सम्भव हो जायेगा। इसीलिये भारत में अपने बच्चों का नाम देवी देवताओं के नाम पर रखने का हास्यास्पद प्रचलन है। हम सोचते हैं कि अंतिम क्षण में हम कहेंगे: राम! यहाँ आओ तो हम राम के बारे में सोच रहे होंगे। इसी संदर्भ में मैंने 'मेरे गुरुदेव' में लिखा है: मृत्यु के समय अगर कोई ऐसा व्यक्तित्व उपलब्ध हो जो हमारी चेतना में प्रवेश करके हमारी बेहोशी में भी हमारे लक्ष्य - हमारे मालिक के विचार को हममें जगा सके तो यह सम्भव है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि जीवन को मृत्यु से अलग करना और यह कहना कि जीवन में हमारे पास अवसर हैं लेकिन मृत्यु में हमारे पास अवसर नहीं हैं, ठीक नहीं है। जीवन में सब कुछ सम्भव था, मृत्यु सारी सम्भावनाओं का अभाव है, जीवन में हमारे पास प्रसन्नता और खुशी है, मृत्यु में केवल अँधकार और तकलीफ - ऐसा सोचना पूरी तरह से मूर्खता है। मालिक इस बारे में बहुत स्पष्ट रहे हैं। अन्यथा वे यह नहीं कहते: सहजमार्ग में हम किसी को अस्वीकार नहीं करते। अभ्यास शुरु करने के लिये आते समय आपकी परख नहीं की जाती। आपके अतीत के बारे में कोई नहीं पूछता। बाबूजी महाराज ने कई बार यह कहा: अगर आप इसी जीवन में लक्ष्य नहीं प्राप्त कर लेते तो आप इसे भूल जाइये। इसलिये नहीं कि अब अवसर नहीं रहे बल्कि इसलिये कि आपने पुन: एक बार भूल की है, आपने फिर से एक बार अवसर खो दिया है। ऐसे उच्चतम मालिक के द्वारा दिये गये अवसर को, जिसने कम से कम आपको मुक्ति देने की गारंटी तो ले ही रखी है, खोकर आप किस अवसर का उपयोग करने जा रहे हैं? अगर आप इस उपलब्धता का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं तो आप भविष्य में इसका उपयोग कैसे कर पायेंगे? इसी संदर्भ में वे कहते हैं: सुनिश्चित करो कि यहीं और अभी, इसी जीवन में यह प्राप्त हो जाये। तभी आप हमेशा के लिये निश्चिन्त हो सकते हो। लेकिन इसका यह अर्थ कतई

नहीं है कि सारे अवसर खत्म हो गये। हमने बहुत सारे अवसर गँवाये होंगे फिर भी जीवन हमें अवसर देता ही रहता है। अगर हम चाहें तो कह सकते हैं कि जीवन अवसरों का ही दूसरा नाम है। हम अवसर पर अवसर खोते जाते हैं लेकिन फिर भी आगे अवसर उपलब्ध रहते हैं।

कोई भी अवसर दो अर्थों में हमारे लिये अंतिम हो सकता है। या तो हम इसका उपयोग करके मुक्त हो जाते हैं या इसे चूक जाते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। आत्मा या चेतना के विनाश का प्रश्न नहीं पैदा होता। ऐसा कहना बकवास है, मूर्खता है और मानवता के प्रति बहुत बड़ा अपराध है। किसका विनाश? हमें इन चीजों का पुनर्मूल्याकंन करने की जरूरत है। हमें किसी पर विश्वास नहीं करना है, प्रयास करना है और खुद में भरोसा पैदा करना है कि मैं यह कर सकता हूँ। फिर जरूरी क्या है? उसे सीखना, जो हमें सिखाया जा रहा है।

अब मैं उनके प्रश्न पर वापस आता हूँ, जो ध्यान करने में समर्थ नहीं हैं। कुछ लोग ध्यान करने में समर्थ हैं इसका यह मतलब नहीं है कि ध्यान करने वाला हर व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त ही कर लेगा। लक्ष्य की प्राप्ति तो इस पर निर्भर है कि हमारा प्रयास किस प्रकार का है, हम ध्यान का अभ्यास ठीक प्रकार से कर रहे हैं या नहीं और हम अपने लक्ष्य के प्रति कितने गंभीर हैं? यह केवल एक शौक है, समय बिताने के लिये है या यह जीवनपर्यन्त चलने वाला प्रयास है? क्या यह मेरी जिन्दगी का हिस्सा बन गया है? क्या मैं हर समय ध्यान में हूँ - उस समय भी जिस समय मैं कोई और काम कर रहा हूँ? सतत् स्मरण का एक अर्थ यह भी है। यह स्वयं का प्रयास है। हम जानते हैं कि हम केवल स्वयं के प्रयास से सफल नहीं हो सकते। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि यह बिल्कुल असंभव है क्योंकि बाबूजी कहते हैं: यह सम्भव है। फिर यह बहुमत के लिये या एक-दो लोगों को छोड़कर संपूर्ण मानवता के लिये असम्भव क्यों है? पहली बात तो यह है कि हम सम्भावना में विश्वास नहीं करते। दूसरी यह कि अगर हम सम्भावना में विश्वास भी करते हैं तो कोई प्रयास नहीं करते। तीसरे हम रास्ते पर इधर-उधर भटकते रहते हैं और रास्ता भूल जाते हैं। ये तीन सामान्य कारण हैं। इन्हें मेरे लक्ष्य की बाधा न तो नियति ने बनाया न ही ईश्वर ने।

अब जो लोग ध्यान करने में समर्थ नहीं हैं, जिनके पास प्रयोग करने के लिये दिमाग ही नहीं है। क्या उनकी प्रगति अनन्त तक बाधित रहेगी? इसमें समझने की बात यह है कि संस्कारों को किसी न किसी तरीके से समाप्त किया जाना है। हमें इसे भोगना होता है

- इसके प्रभावों से उत्पन्न सभी प्रकार की विपरीत चीजों का सामना करना पड़ता है - सुख और दुःख, आनन्द और नीरसता। हम यह नहीं कह सकते कि हम केवल इस प्रकार का भोग चाहते हैं दूसरे प्रकार का नहीं। कुछ को अतीत का संस्कार धनी बनकर भोगना होता है तो कुछ को अतीत का संस्कार निर्धन बनकर भोगना होता है। धनी लोगों को भी कम से कम उतनी तकलीफें तो उठानी ही पड़ती हैं जितनी गरीब लोगों को। कुछ लोगों को संस्कारों का भोग कई बार विवाह करके भोगना होता है और कुछ लोगों को जिन्दगी भर अविवाहित रहकर। कुछ को संस्कारों का भोग बहुत सारे बच्चों को जन्म देकर भोगना पड़ता है तो कुछ को बिना बच्चे के ही संस्कारों का भोग करना पड़ता है। हर चीज के पीछे संस्कार ही हैं।

मैंने कहा: मृत्यु सबको समान बना देती है। यह तो सम्भव है कि आपका संपूर्ण जीवन सिंहासन पर बीते, आप साटन और रेशम के गद्दे पर सोयें, महलों में रहें लेकिन अंत समान होता है। हर राजा अपनी समस्या जानता है। अगर वह विवेकपूर्ण है और योग्य है तो वह यही कहेगा: हे ईश्वर! मेरे सिर से इस ताज को हटा दो और मुझे जाने दो। आपने सुना होगा कि अतीत में एक ब्रिटिश राजा ने एक स्त्री के प्रेम में अपने सिंहासन का त्याग कर दिया था, उसे दण्डित किया गया। लोग सोचते हैं: देखो! एक स्त्री के लिये उसने सिंहासन का त्याग कर दिया। कितना मूर्ख राजा है? लेकिन ऐसा कहने वाले वही लोग हैं जिन्हें सिंहासन की लालसा है। वस्तुत: इस बात का निर्धारण व्यक्ति नहीं करता कि वह क्या छोड़े और क्यों छोड़े? इसका निर्धारण तो उसके संस्कार करते हैं। मैं पूरी तरह से भौतिक दुनियाँ की बात कर रहा हूँ: इस बात का निर्धारण भी हमारे संस्कार ही करते हैं कि हम किसे प्यार करें? मैं ईश्वर के प्रति शुद्ध और उस अमूर्त्त प्रेम की बात नहीं कर रहा हूँ, मैं तो स्त्री-पुरुष, बच्चे और माता-पिता के बीच के प्रेम की बात कर रहा हूँ। इसका निर्धारण भी हमारे संस्कार ही करते हैं।

हमारा विवाह किसी विशिष्ट से ही क्यों होता है? क्योंकि यह संस्कार है। दुबारा विवाह करने पर भी हम फिर से उसी खाई में क्यों गिरते हैं? हम फिर ऐसे व्यक्ति से विवाह क्यों करते हैं जो हमें लात भी मारता है और हमसे पैसे भी लूटता है? अनुभव से तो हमें बेहतर जीवन जीना सीखना चाहिये था। इसका कारण यही है कि एक तरफ तो हमारे अनुभव हैं और दूसरी ओर हमारे संस्कारों का खिंचाव। इसीलिये यह जानते हुये भी कि हम गलती कर रहे हैं, गलती को

बार-बार दुहराते जाते हैं। इसका कोई विकल्प नहीं है। किसी भी बहुविवाह करने वाले व्यक्ति के जीवन में आप यह देख सकते हैं। वे सोचते हैं कि परिवर्तन होगा लेकिन कोई परिवर्तन नहीं होता। चेहरा, कद, स्वरूप और रंग तो अलग हो सकता है लेकिन हमें आकर्षित करने वाली चीज एक ही होती है। जैसे चुम्बक लोहे को हमेशा आकर्षित करती है चाहे लोहे का कोई भी स्वरूप क्यों न हो? इसी तरह यह हमारे अंदर है। भिन्न चीजों की ओर आकर्षित होने की हमारी यह प्रवृत्ति केवल बाहरी है, मूल रूप में तो यह हमेशा एक ही है। यह हमेशा वही लोहा है। यह वस्तुत: संस्कारों का ही खिंचाव है। अब सवाल यह है कि हम इन संस्कारों को अपने स्वयं के प्रयास से किस सीमा तक समाप्त कर सकते हैं? यह जानने के बाद कि शायद यह हमारे एक जीवन में समाप्त न हो पाये, प्रकृति का यह वायदा पूरा करने के लिये कि जिस तरह हम मृत्यु के समय एक समान होते हैं, जन्म के समय भी हमारे पास समान अवसर होते हैं, मालिक आता है।

लक्ष्य की ओर पहुँचने के हमारे प्रयासों, हमारी क्षमताओं, हमारे तरीकों में वह हमारी मदद करता है। जो मैं नहीं कर पाता, वह उसे मेरे लिये खुद ही करने को तैयार होता है बशर्ते हम प्रयास करें। यह दूसरा रास्ता है। पहला रास्ता खुद से प्रयास करने का है। यह भी सम्भव है लेकिन शर्त यह है कि हमारा समर्पण एक ही दिशा में हमारी मुक्ति के लिये हमारे खुद के प्रयासों के प्रति हो। लेकिन हमें यहाँ यह भी याद रखना चाहिये कि बाबूजी ने कहा: लक्ष्य के प्रति हमारे सारे प्रयासों और हमारे पूरे समर्पण के बाद भी प्रथम विन्दु से दूसरे विन्दु तक पहुँचने में हमें ४५ साल लग जाते हैं। इसलिये कम से कम आज के जीवन में जहाँ हम ६०, ७० या ८० साल तक जीने के लिये भी निश्चित नहीं हैं, यह सम्भव नहीं दिखता। इसीलिये इस अवसर का लाभ उठाने के लिये हमें दूसरा रास्ता अपनाना पड़ता है। बाबूजी ने कहा: गुरु को ढूँढ़ो और उसे पाने के बाद खुद को उससे लोहे की जंजीरों से बाँध लो ताकि तुम चाहो भी तो खुद को उससे अलग न कर सको। तभी यह तरीका, यह दूसरी सम्भावना सफल हो सकती है।

गुरु ढूँढ़ने का यह मतलब नहीं है कि मैं अक्षम और अल्पबुद्धि हूँ - इसका अर्थ केवल इतना है कि जिस परिस्थिति में मैं खुद कुछ कर पाने में असमर्थ हूँ, मैं उससे मदद माँगता हूँ। जब मैं अपना फ्रिज ठीक नहीं कर पाता तो मिस्त्री बुलाता हूँ। टेलिफोन ठीक नहीं कर पाता, कार ठीक नहीं कर पाता तो उसका मिस्त्री बुलाता हूँ। अगर इन चीजों को

ठीक करने के लिये मिस्त्री बुलाने में हमारी इज्जत कम नहीं होती तो गुरु ढूँढ़ने में हमारी इज्जत क्यों कम हो जाती है? वह एक मैकेनिक या एक केमिस्ट की तरह है या यों कहें कि वह सब कुछ है। ऐसी स्थिति में हम उसकी मदद लेने में शमति क्यों हैं? हम क्यों अपने घमंड में और गर्व में चूर होकर कहते हैं: नहीं, नहीं, हमें मालिक की जरूरत नहीं है। पाश्चात्य देशों में यह आम बीमारी है। नहीं, नहीं, मुझे मालिक की जरूरत नहीं है। मालिक की क्या जरूरत है? मालिक क्यों? ठीक है! फिर इसे तुम्हें स्वयं करना होगा। प्रकृति हमें दण्ड नहीं देती, हम खुद अपने को दण्ड देते हैं। यह दूसरा रास्ता है।

एक तीसरा रास्ता भी है लेकिन यह हमारी पहुँच के परे है। वस्तुतः यह हमारा रास्ता नहीं है। फिर यह कैसा रास्ता है? शायद आप लोग इसके बारे में सोचना पसन्द करें। यह बहुत ही सरल है। यह उसकी कृपा का रास्ता है। उसकी कृपा उसकी मर्जी पर है। वह जब चाहता है, जहाँ चाहता है, जिस पर चाहता है, अपनी कृपा की बरसात कर देता है। इसमें योग्यता का कोई सवाल नहीं है। इसमें योग्यता, प्रयास या इस तरह की किसी चीज का कोई सवाल नहीं है। इस कृपा को अपनी ओर आकर्षित करने का तरीका क्या है? - प्रार्थना! प्रार्थना करने का भतलब यह नहीं है कि आप फंदा फेंक कर किसी घोड़े के गले में रस्सा डाल रहे हैं। इसका अर्थ है: निवेदन की मुद्रा में, पश्चातापपूर्वक, रिक्त हृदय के साथ बैठना और उसकी प्रतीक्षा करना। बाबूजी ने कहा: सच्ची प्रार्थना का अर्थ माँगना नहीं है बल्कि समस्या को यथासंभव सूक्ष्मतम तरीके से उसके सामने प्रस्तुत करके उसकी प्रतीक्षा करना है। अगर वह चाहता है तो इसे हल कर देता है अन्यथा हम प्रार्थना जारी रखते हैं। बहुत से लोग ऐसे हैं जो एक बार प्रार्थना करके कहते हैं: मैंने प्रार्थना की लेकिन कुछ हुआ ही नहीं। लेकिन एक बार प्रार्थना करने पर कुछ नही हुआ तो आपको दुबारा प्रार्थना करनी चाहिये। अगर टेलिफोन पर किसी से बात नहीं हो पाती तो क्या आप दुबारा उस आदमी को टेलिफोन नहीं मिलाते? आप तीसरी बार, चौथी बार फोन करते हैं। फिर बार-बार प्रार्थना क्यों नहीं कर सकते? हम अपनी प्रार्थनाओं पर किसी भी तरह की सीमा नहीं लगा सकते - न तो की जाने वाली प्रार्थना पर और न ही इस पर कि उसे कितनी बार किया जाये, किस समय किया जाये - इस पर। वस्तुतः प्रार्थना को हमारे जीवन का सतत् अंग बन जाना चाहिये।

हम ध्यान करते हैं और इसे जीवन की एक स्थिति बना देते हैं ताकि उस समय भी जब हम दूसरे कामों में संलग्न हों, निरन्तर उसके चिन्तन में बने रहें। इसका मतलब यह होता है कि दूसरी गतिविधियों में हमारी संलग्नता कम हो जाती है और मनन में हमारी संलग्ना बढ़ जाती है। इससे स्वतः ही हम उचित तरीके का जीवन जीने लगते हैं और जो कुछ भी गलत, अनुचित और अनावश्यक है, उसकी तरफ हमारी निगाह नहीं जाती। हम इस प्रकार की मननशील स्थिति में स्वतः ही पहुँच जाते हैं। सतत् स्मरण में रहने का मतलब यही है कि मालिक हमेशा हमारे साथ हैं। फिर किसी भी चीज के बारे में हमें चिन्तित होने की जरूरत क्या है? हमारे सारे संस्कार उसी तरह अदृश्य हो जाते हैं जैसे सूर्य के उदित होते ही कोहरा। संस्कारों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसा नहीं है कि ये उड़ा दिये जाते हैं या ये बिखर जाते हैं। यह तो बसे वैसे ही है कि सूर्य निकलता है और कोहरा चला जाता है। सूर्य निकलता है और अँधकार चला जाता है। क्या अँधकार कभी टुकड़े-टुकड़े में खत्म होता है? ऐसा नहीं होता। क्या भय कभी टुकड़े-टुकड़े में हटाया जाता है? ऐसी गलती तो मनोवैज्ञानिक लोग करते हैं। मैं कुत्ते से डरता हूँ, तुम बिल्ली से डरते हो, वह साँप से डरती है। लेकिन मेरी समझ में ये सारे भय एक ही हैं - मृत्यु का भय!

किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्रकार का भय मूलतः मृत्यु का ही भय है। अगर इसे हटा दिया जाता है तो किसी भी प्रकार का कोई भय शेष नहीं रहता। जिस आदमी को मृत्यु का भय न हो उसे किसी भी दूसरी चीज का भय नहीं हो सकता। वस्तुतः डरने के लिये और है ही क्या? हम कुत्ते के काटने से डरते हें क्योंकि हमें रेबीज़ हो सकती है, हमें पीड़ा हो सकती है, हम पागल हो सकते हैं और अंततः हम मर सकते हैं। हम ऊँचे स्थान से गिरने से डरते हैं क्योंकि हम गिर कर मर सकते हैं। हम पानी से डरते हैं क्योंकि हम इसमें डूब कर मर सकते हैं। बंद जगहों पर जाने से डरते हैं क्योंकि दम घुटने से हम मर सकते हैं। ये सारे फोबिया - क्लास्ट्रोफोबिया, एगोराफोबिया, फोटोफोबिया - मूलतः मृत्यु के भय ही हैं। अगर मृत्यु का भय समाप्त हो जाये तो फिर किसी भी प्रकार का भय नहीं होगा। सारे भयों को जन्म देने वाले इस अकेले भय को हटाते ही भयरहितता आ जाती है। लेकिन हम उन्हें एक-एक करके हटाने की कोशिश करते हैं। नहीं,

नहीं, अब मैं साँपों से नहीं डरता, अब केवल कुत्तों से डरता हूँ। और इलाज का एक दूसरा सत्र शुरु हो जाता है। फिर से हजार डॉलर! अब कुत्तों से तो मैं नहीं डरता लेकिन दूसरों से डर लगता है। वस्तुत: यह अंतहीन प्रक्रिया है।

हमें हमेशा समस्या की जड़ तक जाना चाहिये। एक अकेली जड़ को काटते ही पूरा पेड़ गिर पड़ता है। लेकिन अगर हम बारी-बारी से पहले एक-एक पत्ती, फिर उसकी टहनियाँ, फिर शाखायें काटते हैं तो जब तक हम कोई शाखा काट पाते हैं दूसरी शाखा अस्तित्व में आ जाती है। हमारा खण्ड-खण्ड प्रयास इसी तरह का जीवन है जैसे पत्ती दर पत्ती जीवन। आप क्या कर रहे हैं? नहीं, नहीं, मैं इस पेड़ को काटने की कोशिश कर रहा हूँ - एक-एक पत्ती हटा रहा हूँ। लेकिन क्या आप कभी सफल भी हो पायेंगे? स्पष्ट है कि कभी नहीं। लेकिन अगर आपने जड़ ही काट दी, पेड़ स्वत: मर जायेगा क्योंकि आपने इसके जीवन का स्त्रोत ही काट दिया है। इसी तरह अगर हम अपने संस्कारों को हटा दें तो मृत्युलोक में हमारे अस्तित्वों की जड़ ही समाप्त हो जाती है।

अगर यह सम्भव नहीं हो पाता तो यह कृपा का, प्रार्थना का प्रश्न बन जाता है। जब मेरे पास आकर लोग मुझे बताते हैं: यह बच्चा ठीक नहीं हो रहा है। २८ साल का है लेकिन ऐसा व्यवहार करता है जैसे कोई ८ साल का बच्चा। क्या यह ध्यान कर सकता है? मैं कहता हूँ - बिल्कुल नहीं। जब वह अपने दाँतों में मंजन नहीं कर सकता, खुद शौच नहीं जा सकता तो ध्यान कैसे कर सकेगा? लोग परेशान हो जाते हैं - नाराज हो जाते हैं - ईश्वर से नाराज! लेकिन एक रास्ता शेष है - प्रार्थना का रास्ता, जिसे हम न तो समझते हैं और न ही स्वीकार करते हैं। हम सोचते हैं कि ईश्वर को यह खुद ही करना चाहिये। मैं प्रार्थना क्यों करूँ? एक और अकड़! हम सोचते हैं कि अगर वह दयालु है तो क्या उसे आकर यह खुद ही नहीं करना चाहिये? यह तो वैसे ही है कि मैं बढ़ई को क्यों बुलाऊँ? अगर वह अच्छा है तो क्या उसे खुद ही नहीं आना चाहिये? लेकिन हमें समझना चाहिये कि उसे पता कैसे हो कि हमें उसकी जरूरत है? वस्तुत: सर्वशक्तिमान के सामने अपनी जरूरतों को सूक्ष्मतम रूप में प्रस्तुत करने का नाम ही प्रार्थना है जिसमें कुछ माँगा नहीं जाता, जरूरतों को पूरा करने का काम उस पर छोड़ दिया जाता है, जिसे वह अपने तरीके से, अपने समय के हिसाब से जब उचित समझे, पूरा कर सके।

इससे यह स्पष्ट है कि हमें समान अवसर प्राप्त हैं और मृत्यु हमें समान अवसर प्रदान करती है। लेकिन जैसे-जैसे हम जीवन में आगे बढ़ते हैं, अवसर की समानता को हम अपनी मूर्खता और अपने दुर्भाग्य के कारण खोते जाते हैं। किसी भी विवेकपूर्ण दर्शन में यह रहस्य परिलक्षित होता है। धर्म इसे नहीं मानता लेकिन अध्यात्म इसे स्वीकार करता है। अगर हम स्वीकार करने योग्य जीवन चाहते हैं तो निश्चय ही हमें आध्यात्मिकता को स्वीकार करना होगा। लेकिन अगर हम अस्वीकृति का जीवन जीना चाहते हैं, हम समझते हैं कि कोई ऐसा है जो हमें हर चीज देने से मना कर रहा है - चाहे वह प्रायश्चित हो, माफी हो या और कुछ तो फिर हमारे लिये कोई सम्भावना नहीं बचती। धर्म में भी इस सत्य का कुछ अवशेष हमें मिलता है कि हम कुछ संस्कारों के साथ जन्म लेते हैं अन्यथा हमारा जन्म ही यहाँ नहीं होता। चर्चों में, हिन्दू धर्म में और दूसरे धर्मों में आज भी यह पुरानी प्रथा चल रही है कि जन्म के समय या इसके कुछ दिनों बाद बच्चे को नहलाया जाता है, उसके ऊपर से अवशेष हटा कर उसे साफ करने की कोशिश की जाती है - शुद्धिकरण का कर्मकाण्ड! लेकिन आज इनका कोई महत्व नहीं रह गया है। अगर ये क्रियायें आज कारगर होतीं तो बच्चे का जीवन एक बेहतरीन संत का जीवन होता। कारगर होने पर यह शुद्धिकरण तुरंत हो जाता। उसका काम पूरा हो जाता। इस क्रिया का अर्थ तो यह होना चाहिये कि बच्चा अब अपनी अंतिम क्रिया के लिये तैयार है।

सत्संग के लाभ के बारे में एक कहानी मैंने आपको शायद कार्मेट्स में सुनायी थी। महान ऋषि नारद, जो ईश्वर की तरह सातो लोकों के हर आयाम में यात्रा करने में समर्थ हैं - उन्हें सत्संग का अर्थ पता नहीं था। एक दिन जब भगवान नारायण टहलने जा रहे थे, नारद ने उनके पास आकर कहा: प्रभो! सत्संग का क्या लाभ है? सब इसकी चर्चा करते हैं लेकिन मैं इसके बारे में नहीं जानता। भगवान बोले: भूलोक में जाओ। वहाँ तुम्हें जाले में लटकी मकड़ी मिलेगी - उससे यह सवाल पूछना। नारद भूलोक आये, खोज कर मकड़ी के पास पहुँचे और उससे पूछा: हे मकड़ी! क्या तुम मुझे सत्संग का महत्व बता सकती हो? मकड़ी इतना सुनते ही फटकर मर गयी।

नारद परेशान हो गये। उन्हें लगा कि उनके कारण ही इसकी मृत्यु हुई है। वे नारायण के पास शोक और उदासी का भाव लिये वापस

पहुँचे। उन्होंने कहा: प्रभो! यह क्या हुआ? मैंने सवाल पूछा और वह तुरंत मर गयी। नारायण मुस्कुरा कर बोले: ऐसा हुआ फिर भी आप महत्व नहीं समझ सके? फिर पृथ्वी पर वापस जाइये। एक गाय बछड़े को जन्म दे रही है। बछड़े से यह सवाल पूछिये। नारद ने आकर उस बछड़े के जन्म होने का इन्तजार किया। बछड़े का जन्म हो जाने पर उन्होंने बछड़े से सवाल पूछा: क्या तुम मुझे सत्संग का महत्व बता सकते हो? बछड़ा उनकी ओर देखता है और वह भी मर जाता है।

नारद वाकई व्यथित हो जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि आखिर यह क्या हो रहा है? नारायण के पास जाने में उन्हें शर्म आने लगती है लेकिन मजबूर हैं इसलिये फिर नारायण के पास जाते हैं। कहते हैं: प्रभो! आप मेरे साथ कौन सी लीला कर रहे हैं? बछड़ा भी मर गया। नारायण ने कहा: ऐसा हुआ? अच्छा चलो कोई बात नहीं। पृथ्वी पर एक स्त्री बच्चे को जन्म दे रही है। उस बच्चे से यह सवाल पूछिये। नारद व्यथित, निराश और अपनी यात्रा के परिणामों से आशंकित होकर वहाँ पहुँचते हैं। वे सोचते हैं: मान लो बच्चा भी मर गया तो? लेकिन भगवान ने कहा है तो आज्ञापालन तो करना ही होगा। बच्चा जन्म लेता है और वे अपनी प्रार्थना उससे करते हैं। बालक क्या तुम मुझे बता सकते हो कि सत्संग का क्या लाभ होता है? बच्चा मुस्कुरा कर बोला: नारद! क्या आप यह नहीं जानते कि मैं ही मकड़ी था। संतों में महान आप एक क्षण के लिये मेरे पास आये। क्षण भर के लिये ही आपका साथ होने से मैं उस अस्तित्व से मुक्त हो गया। (सत्संग का अर्थ होता है - सत्य के साथ होना - प्रकाश के साथ होना) फिर मेरा जन्म बछड़े के रूप में हुआ। वहाँ भी आप मेरी सहायता करने आये। क्षण भर का आपका साथ उस दशा से मुझे मुक्त कराने में सहायक बना। अब मेरा जन्म उच्चतम यानी मानवीय अस्तित्व में हुआ है। नारद जी तीसरी बार आने के लिये आपका बहुत-बहुत धन्यवाद! अब आप मुझे अंतिम रूप से मुक्ति प्रदान कर रहे हैं। इसके बाद उसने प्रार्थना के स्वर में ॐ नमो नारायण या कुछ ऐसा ही कहा और मर गया। नारद समझ गये कि उसकी मुक्ति हो गयी। इससे स्पष्ट है कि महान व्यक्तियों के साथ सत्संग आपको मुक्ति प्रदान करता है। इस अर्थ में सत्संग का अर्थ होता है: हमेशा सत् के साथ होना। सत् का अर्थ है: शाश्वत सत्य और संग का अर्थ है: साथ होना। ध्यान में हम यही करते हैं। अगर हम ठीक से ध्यान कर रहे हैं तो ध्यान में हमें उसके साथ होना चाहिये। मैं ईश्वरीय प्रकाश पर ध्यान कर रहा हूँ -

इसका मतलब यह है कि ईश्वरीय उपस्थिति, जो वहाँ है, अपना प्रकाशरहित प्रकाश वहाँ फैला रही है। ध्यान करते समय मैं किसके साथ हूँ? और अगर मैं उसके साथ हूँ तो फिर मुक्ति कैसी? जब मैं सारी जिन्दगी उसके साथ रहा हूँ तो मृत्यु के समय कैसे उससे अलग हो सकता हूँ? जब वह मृत्यु के समय भी मेरे साथ है तो क्या इसका अर्थ मुक्ति नहीं है? मैं अपने ईश्वर के साथ नरक में थोड़े ही जाऊँगा।

हमें इन सभी चीजों को स्वीकार करना है ताकि हम जो भी कर रहे हैं, उसमें हमें भरोसा हो सके। हम जो कुछ भी कर रहे हें उसमें अगर हमारा भरोसा नहीं है तो यह कर्मकाण्ड बन जाता है। कर्मकाण्ड होते ही यह धर्म हो जाता है। धर्म होते ही हम दफन होने और सम्भवत: फैसले के दिन का इन्तजार करने के लिये तैयार हो जाते हैं। हमारा शरीर बाहर आकर फिर स्वर्ग या नरक में जाने के लिये तैयार हो जाता है। वस्तुत: कर्मकाण्ड और वास्तविकता का यह अंतर आस्था का अंतर है। जिस प्रेम में क्रिया तो होती है लेकिन हृदय नहीं होता वह कार्मकाण्ड बन जाता है। हृदय के साथ होने पर हर चीज शुद्ध हो जाती है। हृदय के बिना हर चीज प्रदूषित होती है। इससे स्पष्ट है कि आस्था को आस्था ही सम्भव बनाती है - ज़िगर नहीं। इसलिये हमें चाहिये कि हम ज़िगर को भूल जायें। जो जीवित रहता है वह ज़िगर है। हमें इस ज़िगर को भूल जाना है और याद रखना है कि जो कुछ भी हम कर रहे हैं उसमें हम भरोसा करें। हमें याद रखना चाहिये कि जब भी हम ध्यान करते हैं, ईश्वर के साथ होते हैं। हमारा ध्यान उनसे संपर्क स्थापित करने की एक क्रिया मात्र है। उसी तरह जैसे हम टेलिफोन कर अपने मित्र की उपस्थिति को सुनिश्चित करते हैं या मम्मी, मम्मी चिल्लाकर यह पता करते हैं कि मम्मी रसोई में है। बस इतना ही जरूरी होता है।

अगर हम इतना करते हैं तो फिर इसकी जरूरत नहीं होती कि हम मृत्यु या अगले जीवन की प्रतीक्षा करें जो हमें समान अवसर प्रदान करता है। हम सभी के पास यहीं और अभी समान अवसर उपलब्ध हैं। बस! विवेक, साहस और विश्वास की जरूरत है जिससे हम भाग्य के द्वारा प्रदत्त इस समान अवसर का उपयोग कर सकें। मैं कामना करता हूँ कि आप सबों के साथ ऐसा हो।

धन्यवाद !

जुलाई १९, १९९१

हिन्दुत्व में हम इस विचार को मान्यता देते हैं कि पैदा होते ही बच्चा मरने की शुरुआत कर देता है। मेरी समझ में यह सत्य भी है। इसका यह मतलब नहीं है कि यह ६० साल बाद या १०० साल बाद मृत्यु को प्राप्त होगा। इसके मरने की शुरुआल तो हो चुकी है। यह वैसे ही है जैसे आप किसी घड़ी का स्प्रिंग कसते हैं, कसते ही यह यह खुलना शुरु कर देता है। इस तरह अगर हम विचार करें तो मृत्यु कब होती है? जैसे ही हम जन्म लेते हैं। स्पष्टत: यह मृत्यु ही है। जन्म ही मृत्यु है। यह अलग बात है कि इसे पूरा होने में समय लगता है। केवल समय ही तो लगता है और कुछ तो इसमें लगता नहीं। इसमें ६० साल लग सकते हैं, तीन दिन में भी यह हो सकता है, १७ साल में भी यह पूरा हो सकता है और इसे पूरा होने में १२४ साल भी लग सकते हैं। लेकिन वास्तव में मृत्यु तो हो ही चुकी है। पैदा होते ही हमारी मृत्यु हो जाती है। लेकिन हम सोचते हैं कि यह हमारा जीवन है। इसके विपरीत अगर हम विचार करें तो पाते हैं कि मृत्यु होते ही हमारे जीवन की शुरुआत हो जाती है। फिर मृत्यु के लिये भयभीत और जीवन के लिये खुश होने जैसी क्या बात है? यह कितना हास्यास्पद है। यह मेरी अंतिम वार्ता का विस्तार है। इस तरह आप देख सकते हें कि दुनियाँ में सब कुछ उलटा-पुलटा है।

पी. राजगोपालाचारी
जुलाई १९, १९९१

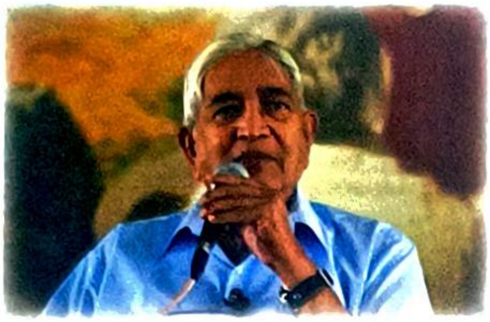

"पूर्ण रूप से सच्ची शिक्षा वही है जब आप सिखाते नहीं परन्तु शिष्य सीख लेता है। उत्तम शिक्षा तभी आत्मसात् होती है जब उसे सिखाया नहीं जाता।"

"सच्चा शिक्षक जीवनभर सीखता ही रहता है। जिस शिक्षक ने सीखना बन्द कर दिया है वह शिक्षक बने रहने के लायक़ नहीं है ।"

–पी. राजगोपालाचारी

धर्म और आध्यात्मिकता में पूज्य श्री पार्थसारथी राजगोपालाचारी द्वारा सन् 1991 में यूरोप के फ्राँस के ऑजरा आश्रम में दी गयीं वार्ताएँ संकलित हैं।

वे धर्म का सार्वभौमिक दृष्टिकोण, वर्तमान युग में आध्यात्मिकता की बढ़ती आवश्यकता, मृत्यु को स्वीकार करना और इंसान को जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचने के लिये सारी अनावश्यक मनोवृत्ति, पूर्वाग्रह और मतभेद आदि को त्याग देना जैसे विषयों पर हमारा ध्यान केन्द्रित करते हैं।

वे हमें निर्भिकता से सीखने के तरीक़ों, शिक्षा और उसके आशय के बारे में विचार करने की चुनौती देते हैं तथा सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों पहलुओं पर दिव्यता के सभी जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करते हुए अद्भुत अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

हमारे प्रशिक्षण केन्द्रों के स्थान एवं सूचना हेतु www.sahajmarg.org

Hindi ₹ 150

ISBN 978-93-84963-28-6

9 789384 963286 2195

स्पिरिचुअल हायरार्की पब्लिकेशन ट्रस्ट, कोलकाता - 700 027
के लाइसेन्स के अन्तर्गत प्रकाशित